UNIVERSAL
LIBRARY
OU_182986
UNIVERSAL
LIBRARY

OUP—67—11-1-68—5,000.

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

Call No. H 81 C49S Accession No

Author चतुर्वेदी, भोजराज 'मान

Title शिका और लहरे.

This book should be returned on or before the da

प्रकाशक :

चतुर्वेदी प्रकाशन समिति

कमतरी, आगरा (उ. प्र.)
शाखा : १४-७-३, बेगम बाजार
हैदराबाद दक्षिण (आं. प्र.)

प्रथम संस्करण : १०००

मूल्य १.५०

प्राप्ति स्थान :
भारतीय पुस्तक भण्डार
बेगम बाजार, हैदराबाद-दक्षिण (आं. प्र.)

मुद्रक :
नेशनल फाइन प्रिंटिंग प्रेस,
चारकमान, हैदराबाद (आं. प्र.)

अनुक्रमणिका

१.	शिला	१
२.	नवविहान	५
३.	जागरूक सौन्दर्य बोध	७
४.	ओ शिल्पी	१०
५.	आत्म-उद्बोधन	१२
६.	व्रजधरा	१३
७.	अनावृष्टि	१५
८.	तरिणी से	१०
९.	अंधेर	१९
१०.	कोकिल से	२०
११.	मानव तू क्यों होता उदास	२२
१२.	अमर-यात्री	२३
१३.	पतझर की रात	२९
१४.	नवयुग	३३
१५.	अंतर	२८
१६.	बुद्बुद् गीत	४०
१७.	जिज्ञासा	४१
१८.	समाधान	४२
१९.	अर्घ्य	४४
२०.	अप्रत्याशित	४६
२१.	प्रेम	४८
२२.	आजा मेरे स्वप्न पुरातन	४९
२३.	विदा के क्षण	५१
२४.	अशेष सुधि	५३
२५.	तुम होते तो	५६

२६. अरुणोदय ५८
२७. सिंहनाद ५९
२८. तलवारें अभी म्यान कैसे ६१
२९. गाते विहंग से ६३
३०. जनवाणी ६५
३१. कवि का साधक जीवन ६९
३२. सूखा पत्ता ७०
३३. कवि सम्मेलन ७२
३४. एक सपना ७८
३५. वृक्ष की बात ८६
३६ प्रलोभन ८८
३७. मंझधार ९०
३८. विलोमगति ९२
३९. अमूल्य निधि ९४
४०. मुझ से कहा संसार ने ९६
४१. पागल ९८
४२. सरोवर १००
४३. मुक्त मन १०४
४४. मृत्यु से भेंट १०६
४५. लहरों से १०८

निवेदन

"शिला और लहरें" शीर्षक से आज जो पद्य आपके सामने प्रस्तुत हैं इनका रचनाकाल १९४७ और १९५० के बीच का ही है। "वनवासी" शीर्षक से प्रकाशित रचनाएँ और इस संग्रह में प्रस्तुत रचनाएँ प्रायः थोड़े ही अंतर से लिखी गयी थीं। वह मेरे जीवन का भी उतना ही संक्रमण काल था, जितना इस मेरे देश का और अभाव के स्वर भी दोनों ही दिशाओं में समान रूप से सशक्त थे। विचित्र संयोग ही है कि उन स्वरों में अभी भी, उक्त समय को पूरी दो शताब्दियाँ हो जाने पर भी, कोई बहुत बड़ा अन्तर नहीं आया।

यों तब से अब तक मेरे दृष्टिकोण में, जीवन दर्शन में और अभिव्यक्त में कदाचित् बहुत अन्तर आयु का हो, पर मूल भाव-भूमि उसी अभाव रागिनी से प्रभावित है--और वे अभाव भी प्रायः इतने वर्षों में मेरे साथ ही साथ वार्द्धक्य प्राप्त करते रहे हैं। वाह्य और आभ्यांतरिक असंतोष तो इस युग की अपनी मौलिक विशेषता है ही, मेरे स्वरों ने भी इस कोलाहल में थोड़ा बहुत योगदान किया है। इस अपराध को मेरी विवशता ही समझा जाए। वास्तविकता यह भी हो सकती है कि हम ने स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद के युग की जो भी रूपरेखा बना रखी थी, और उसके बनाने में

हमारे युग के कर्णधारों ने जितने आकर्षक रंग भरे थे, वे स्वतन्त्रता युग में एक बहुत दुखदायी भ्रम बन कर ही रह गये और सत्य सपने हुए, सपने सत्य नहीं। इन विडम्बनाओं में युग की वाणी का जो भी रूप होना था, वही हुआ और उसकी संतानें 'अ' विशेषण लगाने को विवश हुई, मानों इस 'अ' से समस्त परम्पराओं को नकारने की अनिवार्य स्थिति आ गयी हो। तभी आज 'अकविता' 'अकहानी' या इसी प्रकार की 'अ' विधाएँ हमारे नव साहित्य में उमड़ रही हैं, क्योंकि उनका जन्म असंतोष और अभाव से ही तो हुआ। इस 'अ' की चाह में यदि हम अनाचार और अनैतिकता की ओर अंधे हो कर दौड़ भी उठे हों तो यह भी बहुधा उन परिस्थितियों का ही दोष है, जो हमारे लिए अधिकांशतः निर्मित की गयी हैं। अपने आप जन्मी नही।

पता नहीं कि समाजवाद के नारे लगाते हुए हम घोर व्यक्तिवादी से भी कुछ सीढ़ियाँ नीचे उतरे हैं या बिलकुल गिर ही गये हैं। पर साहित्य यदि युग का दर्पण है तो आप अवश्य ही इस दर्पण पर इन वर्षों में अंकित छायाओं को बहुत कुरूप, कभी-कभी नीचता और प्रायः सदैव ही नंगा पा सकते हैं।

वैसे 'शिला और लहरों' में नया या चौंकाने वाला कुछ भी नहीं, और जो कुछ भी है वह अवश्य ही अनेक स्वरों ने अनेक प्रकार से व्यक्त किया है। पर मैं तथाकथित जुलूस या शोभा-यात्रा में एक परिचारक रहना भी अपने लिए गौरव

ही समझूंगा जिसमें सर्वश्री प्रसाद, निराला, मैथिलीशरण गुप्त, पंत, नवीन, माखनलाल जी, दिनकर, बच्चन, भगवतीचरण वर्मा, डा. रामकुमार वर्मा, महादेवी जी, नरेन्द्र शर्मा, या अंचल जैसे व्यक्तित्व अपने कृतित्व से इतना भर गये और भर रहे हैं कि वे इस अकिंचन "शिला और लहरों" के कवि को आधार, चरण और दिशा सभी तो दे रहे हैं और मुझ से जाने कितनों को युगों तक किरण-दान करते रहेंगे। मैं अपने उन अग्रजों का सदैव ऋणी और कृतज्ञ हूँ, और रहूँगा।

और दादा मधुसूदन जी के प्रति अपना आभार मैं किन शब्दों में प्रकट करूँ, जिनकी कृपा से ये तथा और भी रचनाएँ अंधकार में विलीन होती-होती प्रकाश प्राप्त करने लगी है। पिछले ४–५ वर्ष अवश्य ही मेरे जीवन में बहुत मूल्यवान हैं, जिनमें आदरणीय बनारसीदास चतुर्वेदी, जैसे साक्षात प्रकाश स्तम्भ से मुझे सम्पर्क लाभ के अवसर प्राप्त होते रहे हैं और प्रेरणा, परामर्श, स्नेह के वे वरदान जो अजेय संकल्प और अजर शक्ति के स्रोत हैं, अनायास ही मेरे होते रहे हैं।

१५–८–६८ —भोजराज चतुर्वेदी 'मानव'

प्रकाशक की ओर से

श्री भोजराज चतुर्वेदी 'मानव' की दूसरी कृति 'शिला और लहरें' साहित्य-जगत को समर्पित करते हुए समिति हर्ष का अनुभव करती है। कवि की वाणी में युग का प्रतिबिम्ब मुखर हो उठा है। सहृदय पाठक आनन्द की अनुभूति प्राप्त कर हमारे इस प्रयास को सफल बनाएँगे।

ग्राम : कमतरी
प्रान्त : आगरा (उ. प्र.)
१५-८-६८

—टोडरमल चतुर्वेदी
प्रधान संचालक
च. प्र. समिति

शिखा

(१)

तुम कौन अहल्या-सी सोयी, इस निर्जन में ले व्यथा भार,
शापों से मर्माहत तुमको कर गया शक्ति का अहंकार।
तुम अचल तपस्विनि-सी सहती, वर्षा, तप हिम की वक्र दृष्टि,
कितने युग बीते इसी भाँति, छूटी न समय की सिद्ध यष्टि,
पाने को केवल पदाघात, कोई न चरण सकते उबार।

(२)

इस ओर एक भग्नावशेष, जो आज बन गया रजस्तूप,
कल उसमें भी बसते होंगे, सुन्दर नर-नारी शिशु अनूप,
जिनके वियोग में डगमग हो जड़ भीतें रोयीं तन पसार।

(३)

वे थे किसके कर मोहन से, तुम जिनकी गोवर्द्धन बन कर,
इस दूर देश में आयी थीं अपने ऊँचे कुल को तज कर,
तुम को अरुणाई देने को, पद गये कौन यावक उतार।

(४)

मद-यौवन आतुर भाग रही, वह लघु सरिता निज तन सँवार,
जिसके कौतुक क्षण बन जाते, दर्शक पुलिनों के समीकार,
बदनामी वर्षा ढो कर भी, जिसने न कभी सीखा विचार।

(५)

मधु पर्व तुम्हारे भी तो थे, क्या चुरा ले गयी क्षुद्र धार।
जिसकी गति सुन्दरता घातिनि, जब तब बन जाती निराधार,

जिसकी सीमा मे बसते हैं निज विवर बना के वृक-सियार,

निस्पृह निरीह लगते से तन, कर उठते लहरों में विहार।

(६)

इस गर्जे से शिर पर चढ़ कर, जब रोदनरत् होते शृगाल,
तब किस अतीत की उज्जवलता भरती विषाद से अतराल,
किसने सीमित कर देने को रच दी दूर्वा-लक्ष्मण रेखा ?

किसने ययाति की भाँति लिया तुमसे यौवन-जीवन उधार

(७)

ब्राह्मी लिपि-सी भू भाग्य कथा हल के फल से लिखता किसान,
जो महाविष्णु-सा पाल रहा, इस जग के छोटे बड़े प्राण,
कल प्रलय करेगा उपजो को गा कर फागुन के मस्त गान,

उसके उपकरण अकुठ रहे, पाषाण बनी यों चिति बिसार ?

(८)

कोई कुभज तो कह न गया "सोना जब तक मे आ न सकूँ,
अवमाद अँधेरा जड़ता लो, जब तक में पुन. जगा न सकूँ,"
पर लौट न आया वह छलिया रह गया समय बन क्रूर व्यंग्य,

तुम-सी तुम ही हो पूजनीय, वचिते! कौन तुम-सा उदार !

(९)

रवि की अनुराग भरी किरणे, बादल का सहरोदन प्रवाह,
शशि की शीतल सौन्दर्य राशि, अवनी का ओषित हृदय दाह,
विक्षुब्ध न तुम को कर पाते कोई लोचन, कोई कराह,

नभ के तारों का कपन भी, कर सका न कंपित एक बार !

(१०)

किस कच से हिम-निर्ममता ले, तुम कठिन देवयानी सोयी,
किस इन्दुमती को खो कर तुम, व्याकुल अज-सी युग-युग रोयी,
बोलो तो दुःख से पागल हो, कितनों ने पटके शीश यहाँ,
क्या चदन चन्द्र किरण बो कर तुमने पाये विषधर, अँगार ?

(११)

किसके सपनो के खँडहर की, शोभा का तुम अवशिष्ट भाग,
किस प्रगतिशील की पथ-बाधा, किस तरुण व्यथा की मूक आग,
किस गौरव का खंडित कपाल, किस पतिहीना का भग्न-भाग,
किस वासव की भौमिक अनुनय, किस गौतम का निश्चल विराग ?
किस शिव की कठिन समाधि, जिसे छू कर मर जाते स्वय मार

(१२)

अवनत हताश मानव मन की, तुम गौरव श्रेणी बन जाती,
अवसर के चलते पखो को छायाग्राहिणि-सी धर पाती,
अवरोध बन गयी होती यदि सागा के हटते पांवो की,
नौ सौ वर्षों की करुण कथा, किस भव्य रूप में लिख जातीं,
तेरे बहुमूल्य सहारे का, कोई न ऋणी ? जीवन असार !

(१३)

ससृति के सूने पृष्ठों पर किस करुण गीत की छंद एक,
किस प्रणय प्रताड़ित जीवन की अंधी यात्रा मे आश-टेक,
किस अपराधिनि ने जन कलंक, एकान्त विजन मे दिया फेंक
किसके पंखों पर धरा भार, किसका अवरोधित भाग्य द्वार !

(१४)

तुम हो किस माँ का कठिन हृदय, जो नयन बिन्दु बन खो न सका,
जिसके शिशु अमर शहीद हुए, पर टुकड़े-टुकड़े हो न सका,
किस तरुण शैल का हृदय पिंड, जिसने निज उन्नत वक्ष चीर,
निष्ठुर सुन्दरता अर्पित की, पर सफल मनोरथ हो न सका!
सागर में मिलने दौड़ गयी, उसको ठुकरा, कर निराधार!

(१५)

तुम किस अनाथ की सुख शैय्या किस निरीहता की सखी मूक,
किस दुर्वासा की हठधर्मी, किस कौशिक की सत्कार चूक,
उस दिन कितनी इच्छा होगी, तुम को उर पर धर लेने की,
जब मन की सौ-सौ मन पीड़ा, उड़-उड़ उठने का उठी हूक,
दुष्यन्त तिरस्कृत हो नभ को निःशब्द रही हो ज्यों पुकार।

(१६)

किस नभचुम्बी स्वप्निल गृह को, तुम बन न कभी आधार सकी,
बोलो उपेक्षिते! जीवन में जीती भी, या बस हार सकी?
शिल्पी से रह कर अवज्ञात, तुमको न मिले शोभा विकास,
उपयोगी हो न सका जीवन, धरिणी पर बन घन भार सकी,
तुम शिल्पित हो पूजी जाती, मैं पूजूँगा यह अछल रूप,
मैं खोज सका ऐसी प्रतिमा, जो आडम्बर धिक्कार सकी!

ओ सहनशीलता की प्रतीक, तुमको अर्पित शत नमस्कार
तुम कौन अहल्या-सी सोयी, इस निर्जन में ले व्यथा भार!
शापों से मर्माहत तुम को, कर गया शक्ति का अहंकार!!

——

(२)

नव विहान

मुक्त हुई गति मति कल्याणी ।

टूट गयी शापों की कारा, बिखर गयी शृंखला पुरानी ।

मुक्त व्योम, तारे मुसकाये,
मुक्त जलधि ने ज्वार जगाये,

सानु शिखर, सर-सरिता-निर्झर, जड़-चेतन्य हुए अभिमानी ।

फिर लौटा विश्वास हमारा,
फिर जागा इतिहास हमारा,

शस्य श्यामला भारत भू से श्वेत कुष्ठ की मिटी कहानी ।

कोकिल, केकी, जलधि, जलद स्वर,
प्रति तन, प्रति मन मुदित झूम कर,

ओ नवयुग की मुक्तिप्रदा तिथि, करते हैं तेरी अवगानी ।

कोटि-कोटि प्राणो के क्रन्दन,
नौ सौ वर्षों के कटु बंधन,

हृदय उमँगता कलिंदजा का, उद्दीपित दिल्ली दीवानी ।

राहु मुक्त किरणें उग आयीं,
नभ ने आशीषे बरसायी,

इन्द्रचाप सी बन्दनवारें, द्वार-द्वार जाती लटकायीं,
दशमुख जालंधर फिर हारे, लौटी सीता, मातु भवानी।

मुक्त हुई गति मति कल्याणी।

—

(१)

आगरूक सौन्दर्य बोध

कवि ! तू था कितना अनजान

एक अंश सुन्दरता को ही, तू ने तो अब तक पहचाना।

झूम के गाये कितने गीत,
देख के शिशु के कोमल गात,
सद्य प्रस्फुटित कली, तृण-पात,
हरित अनुरंजित सावन भोर,
भ्रमर, चातक, कोकिल या मोर,
कर गयी बुलबुल भाव विभोर,
और सर में प्रफुल्ल जलजात,

सहज ही गये हृदय को जीत।

परम सुन्दरी शरत् विभा मे हरी भरी धरिणी को माना।

पर, खल्वाट, संकुचित कम्पित,
त्यक्त शिथिल, श्रीहीन धूसरित,

सत् सम्पर्कित पीत पत्र थी, मर्मग्राहिणी छवि को जाना ?

कवि ! तू था कितना अनजाना!

यही तो थे तेरे अभिमान,

धवल बक, श्येन, निरीह कपोत,
तारिका, हिमकर, रवि, खद्योत,
चचला, सरि, सागर, घनश्याम,
महल, उपवन, वन, गिरि अभिराम,
कनक, मदिरा, प्रत्यूष ललाम,
मधुर नव बाला, यौवन ज्योति,

इन्हीं में तो अटके थे प्राण।

और स्वप्न की इन्द्रचाप सी
छवि काया का था दीवाना।

सूना नभ. नंगे तरु सुन्दर,
माधव-सा ही मोहक पतझर,
मरु, ऊसर, कंटक, विष विषधर,
पीड़ा का सौन्दर्य लुभाना।

कवि ! तू था कितना अनजाना।

देख अभिनव सुन्दरता आज,

नभोपल, आंधी, रवि-म्रियमाण,
अमा जिस पर जीमूत वितान,
शून्यता, खँडहर, स्वर्णिम खेत,
रद-रहित बदन, और कच श्वेत,
नग्न भू, विरस जलाशय, प्रेत
और लहरों का द्रुत अवसान ?

अखिल नीरव विषाद का राज।

तप्त ज्येष्ठ की दोपहरी में
लू का करुणा गान सुनाता।

पाप-पुण्य, सत-मिथ्या सुन्दर,
प्रेम-घृणा, अथ-इति सम मनहर,

सुधा-गरल, कटु-मधुर, अयश-यश,
मुक्त हास, दृग् नीर बहाना।

कवि तू था कितना अनजाना

---

(४)

ओ शिल्पी

कर ऐसा निर्माण ।

अरे आज के शिल्पी मेरा कर ऐसा निर्माण ।

सम हों सामाजिक अधिकार,
किन्तु व्यक्ति हों मुक्त-विचार,
खुले सभी के लिए चतुर्दिक.
हों विकास के द्वार ।

सामूहिकता व्यक्ति-मुक्ति का मिल हो प्रगति प्रयाण ;

सीमा का उतना विस्तार,
जिसमें गुण कर सकें प्रसार,
हो न हितो के टकराने का,
अवसर या व्यापार ।

हों अनुपात संतुलन क्रममय, जीवन के अनुदान ।

जगे कला विद्या विज्ञान,
सभ्य नागरिकता ले जान,
पुन: दिखा दे कल से भी,
नव भारत अधिक महान ।

अकल अवनि के अभिशापो मे बन जाएँ वरदान ।

सहकारिता करे स्वामित्व,
हो समष्टि का प्रथम महत्व,
विघटनकारी सब तत्वों के,
मिट जाएँ अस्तित्व।

वर्ग-रंग अलगाव भुला, ये जग हो स्वर्ग समान।

कर ऐसा निर्माण।

---

(५)

आत्म-उद्बोधन

दीन रे तेरी निराशा !

एक ठोकर से विपथ तू, एक ही शर से बिधा सा।
मोद के कुछ उपकरण खो,
स्वप्न नश्वर, मधुर क्षण दो।
कथित यश-गौरव गये, परिसुप्त कोई भ्रान्त आशा,
रूप से हो क्षण विडम्बित, तू पुकारा हाय "प्यासा"।
देख यह दुख की कहानी,
क्लेश जर्जर पेट, पीड़ित, पीर आकुल रुद्ध-वाणी।
दैन्य उद्भव, दैन्य जीवन, मृत्यु जिनकी एक आशा,
दास्य कुंचित, भीरु, कातर अश्रु जिनकी व्यक्त भाषा।
ज्ञान से वे चिर अपरिचित।
अक्षरों के रूप लख वे वदन विस्तृत, नयन विस्मित,
तुच्छ पा उच्छिष्ट अशनाच्छाद वह मानव ठगा सा,
देख आँखे खोल नर को चौपदों से भी गिरा सा !
क्या यही अधिकार इनका !
क्या न कुछ आकाशचारी बस बढ़ाते भार इनका।
कुछ पिएँ रस स्रोत, अधिकों को मिले जलती पिपासा।
तोड़ रे भ्रम-पाश कर दे एक गंगा-कर्मनाशा।
दीन रे तेरी निराशा।

(६)

ब्रज-धरा

पथिक ! चलते पाँव क्यों रुकने लगे ?
डगमगाते गीत, दृग झुकने लगे ।

कौन मुद्रित कर रहा मधु मौन से,
भर रहा आस्वाद नूतन कौन से,
हरित बसना बसुमती कनकाङ्गिनी,
एक मे श्री सुरभि, द्युति, मधु रागिनी ।

श्वास से अंगार फिर फुँकने लगे ।

ये निकुजें या सुवासित व्यूह रच,
तरनिजा ऊर्म्मिल पुलिन या कच विकच,
पुष्प-भँवरे है कि राधा श्याम है,
रोम हर्षों से करील, प्रणाम है ।

धीर के अभिस्यद स्वर चुकने लगे ।

प्राण ! पी लो आज पावन नील जल,
तन, तरनिजा में करो कल्मषि धवल,
मन, सहेजो रज बसी पग छाप को,
पुण्य से बदलो जनम के पाप को ।

रास की सुधि में महानिश्वास बन,
क्लेश जाएँ, मैं कहूँ "लुकने लगे ।"

प्यार, ये संसार तेरा और है,
तीन लोकों से निराली ठौर है,
तीन तापों की यहीं पर हार है,
ब्रजधरा वैराज का शृंगार है।

सुन्दरी ! मुझको सम्हालो अंक में,
ज्योति की जय दुंदुभी ठुकने लगे।

— —

(७)

अनावृष्टि

शुष्क विरस सावन रजनी-दिन ।

विधि का कठिन चक्र लू बन कर झुलसाता कलि-किसलय तन-मन ।

ये असमय के वात-व्यूह, पिंजरवत् पशु कंकाल,
मृतकप्राय कंगाल निगलता आता जिन्हें अकाल ।

बिलख रहे आनन्द हीन शिशु, विकल निराशा शापित यौवन ।

जहाँ सुनी कजरारी निशि मे मृदु 'पी' की मनुहार,
वहाँ मौन साकार देखता नभ का दृग् विस्फार ।

भटका टुकड़ा भी न जलद का करता आशामय क्षण-दो क्षण ।

हाय, यहाँ भी क्या मानवता खाये नारी-बाल ?
चंडी ! क्या दुहराया जाये एक और बंगाल ?
मुठी अन्न मे देह बिके, नर श्वानों के आहार,
क्या अभिशापों से ही अंकित नव भारत का भाल ?

तेरे कानों तक न पहुँचता, इन सूखे कंठो का क्रन्दन ।

निर्माणों के स्वर नीरव है, थकने लगी पुकार,
यहाँ अमा का राज्य, चाँदनी को बस कारागार ।
सुविधाएँ कुछ को, दुविधा ही औरो का अधिकार,
नगरों को संगीत नृत्य, ग्रामों को हाहाकार !
ये अपना ही घर है, अथवा अपनों से पाया निर्वासन ?

———

(८)

तरिणी से

जाना होगा पार !

पगली क्यों तट पर रुक-रुक कर खोज रही आधार ?
सम्मुख धारा निर्दयता की,
तुझे गमन करना एकाकी,
क्यों मन को अस्थिर कर जाता ये अगाध विस्तार ?
डर क्या यदि तम अपरिसीम है,
चिन्ता क्यों यदि पवन भीम है
खोज रही क्यो अंधकार में उस तट ज्योति उदार ?
भँवरों से भी क्या डरना री,
इनमे ही जीना-मरना री,
इनमें ही तो राह बनानी, फिर क्यों सोच विचार ?
लीन करें या हो वरदानी,
एक चित्र के पक्ष उभय सुख-दुख उत्थान-उतार !
आज नही कोई माँझी भी,
सुख-दुख मे कल्पित साझी भी,
सवेदन उत्साह प्रदाता एक न भी पतवार ।
अब तक इतना कुछ भोगा ही,
आगे जो होना, होगा ही,
अरी तरी, जर्जर तन पर मत लाद व्यथा के भार ।
तेरा तप-साधक का जीवन,
चिन्ताएँ बाधक जाती बन,
क्यों उनको आमन्त्रित करती माँग रही निज हार ।

इस यात्रा में नहीं द्वीप भी,
कूल नहीं आता समीप भी,

छिपा चुका पथदर्शक तारक भी भीषण नीहार।
इतने पर भी तो न रुकेगा जीवन का व्यापार।

जाना होगा पार।

----

(०)

अंधेर

मेरे घर में अंधेर राज, मेरे आंगन में तम विलास
सुमनित सुगंधवाही गुलाब जिन पर हँसते पीपल पलाश,

जिनकी प्रतिभा प्रतिभू उन पर पहरे लगा रहे हे बबूल,
उत्पादक सजल कछारों पर आतक बन रही पथ धूल,

दे रहे ज्योति-स्रोतो को ही, तमचर लक्ष्मीवाहन प्रकाश।

नभचर विहगों को बाँध रही छायाग्राहिणि की पांशुलता.
बन्दी हे, ज्यों कल रहती थी क्लीवो से घिर कर सुन्दरता,

भूखे ही सोते राजहंस, मुक्ता काको का बना प्राश।

अब तक भी सुरसा की दासी, रहती विनीत विनता माता,
अमृतघट सत् साहित्य मिला, फिर भी न चुका जो ऋण आता,

शेखर को नूपुर दबा रहे, ले कर विभीषणो के प्रयास।

गरुड़ो के पंजो में न शक्ति जो सर्प दर्प को करें चूर,
वह वज्र चंचु हो गयी, मोम पंखो से गति हो गयी दूर,

माँ की अपमान जनित पीड़ा, पुत्रों को घेरे भूख-प्यास।

कैसा विचित्र उपवन मेरा, जिसमें सुमनों की चाह नहीं,
फल शोभा के कट चुके वृक्ष, जो हैं उनमे उत्साह नहीं,

ये जीवन के निर्माता हैं, या यंत्र ले रहे कृत्रिम श्वास !

वे अस्थि-चर्म के पुतले भर, अधिकांश दुखी निर्धन हताश,
उनकी श्रमकुंचित काया को कसता पूंजो का नाग-पाश,
फिर भी अपने सुख दुख बिसार, करते हैं अर्चन के उपाय,

साधन विहीन आराधक वे तम-भ्रम कर्दम में हैं हताश !
मानवता भू पर रेंग रही, पशुता धर जाती लौह चरण,

चढ रही सुरभि की छाती पर बोझिल पशु ज्वाला अंध पवन,
उन्नति मे केवल अहंकार, विद्या जाती मृतजीवी बन,

इन गलियों के आतंक श्वान, भूखों से लेते छीन ग्रास।

दुर्बल के श्रम का मोल नहीं, उसकी पीड़ा की तोल नहीं,
माँ, तेरे मंदिर सी जग में पडा-प्रपंच की पोल कहीं ?
वे क्षीण कंठ से बिलख रहे, बहरे कानों पर क्या प्रभाव ?
उन पर न आधुनिक यंत्र-तत्र, ऊधम करने को ढोल नहीं,

वे डूब रहे पर, कर्णधार हो कर तटस्थ लखता सहास !!
मेरे घर मे अंधेर राज, मेरे आंगन मे तम विलास।

---

(१०)

कोकिल से

उड़ चली किस ओर कोकिल छोड़ दुख-नीरव सजल बन।
शेष चैती चाँदनी है, जी रहे सौरभ-समीरण।

डूबता पंखिल हुआ रव, किन बहारों मे निमत्रण ?
उस कथित 'अभिमान' का शिर फिर झुका कैसा प्रलोभन ?

रस-मधुर इस काकली से, धन्य होगा कौन नंदन ?

आह, मायाविनि अभागे आम की अवहेलना क्यो,
शरत् सा पावन प्रणय, इस भाँति उससे खेलना क्यों,

तुम नही वैरागिनी, अब धन्य होगा कौन बंधन ?
किस शिखर के शिथिल तंद्रालस सपन साकार होगे,
किस अरुण किसलय अधर पर किरण के अवतार होगे,

कौन सा मदमत्त, झूमेगा अभागा क्वणित कानन ?

हाँ अभागा ही, न तुमको बाँध पाएगा सदा को,
रोक कब पायी शिलाएँ हरहराती नर्मदा को,
राग का मधु-मोद मर्मर, कल बनेगा दीन क्रन्दन !

अब न होना सदय कोकिल, फिर न तुम इस ओर आना,
तरु वसन्त विभोर हों, तब गीत मत इनको सुनाना,

आह सावन फिर कहेगा दुख कथा, कर अश्रु-वर्षण !

शरत् के कैरवि कलोलित चंद्र चर्चित आगमन में,
या कि शिशु हेमन्त के दुख-पीत दल-पल्लव नयन मे,
खोज करती सी तुम्हारी, अब न जिज्ञासा जिएगी,

ओसकण होंगे, न होगा किन्तु वह तुमको समर्पण !

शिशिर के नंगे विरागी वृक्ष सुषमा दान करते,
वह तितिक्षा ऋतु भले हो, अब न तेरा ध्यान करते,
मुक्त बन्धन-हीन तन मन, शान्ति की करते प्रतीक्षा,

अब न आना, हो चुका अब राग-बंधन का विसर्जन।

----

(११)

मानव, तू क्यों होता उदास !

जीवन जीने के हेतु बना, बहुमूल्य क्षुद्र क्षण, श्वास-श्वास !

कहती पिपीलिका काम करो,
बाधाओं से संग्राम करो,

पर्वत कहते उद्ग्रीव रहो, जीना भी क्या होकर हताश !

मृतप्राय जलद भी मुसकाता,
चिर बंदी सागर लहराता,

बुद्बुद् मद विस्फाटित होते, जलता दिनकर प्रति दिन सहास।

शूलों मे भी कलियाँ हँसतीं,
बुझती तारावलियाँ हँसती,

जुगनू को ज्योति बुझाने में, हारे तम-आँधी के विनाश।

बानर भी बाँध सके सागर,
पी सके जलधि, वे भी थे नर,

ऐसा तो एक विनाश नहीं, जिसके न गर्भ में नव विकास।

आँधी आई तरु-शिखर झुके,
पर क्या उनके उत्थान रुके ?

हो शक्ति अगर सकल्पों मे, कल्पों को जय करता प्रयास।

— —

(१)

अमर यात्री

नभ से टूटा भाग्य सितारा।

अविकल सत्य-ज्योति से वंचित ठोकर खाता जग, अँधियारा।

राष्ट्र पिता, वह विश्ववंद्य, वह अमर अहिंसा शान्ति पुजारी,
प्रेम, न्याय विश्वास मूर्ति, उन्मुक्त तेजमय चरखाधारी,
वह जिसने अवतार लिया था, भव के भय बधन हरने को,
जो वैषम्य-प्रपच पुंज को, छुआछूत को था चिनगारी,

नष्ट कर दिया पागलपन ने, वही विश्व के दृग् का तारा।

(२)

चली त्रिदोष, त्रिशूल तीन तापों सी गोली--लक्ष्य हृदय था,
तीन लोक-गुण, काल, देव, सच्चिदानन्द सदोह सदय था,
बिधे सत्य-शिव-सुंदर तीनों, सप्तधातु का पिजर त्यागा,
पच भूत दे सप्त गिरा को अस्त हुआ, युग-अरुणोदय था,

अशनि, उपल, तूफ़ान भँवर है, मानवते ! है दूर किनारा।

(३)

जिससे जग के अंधकार को, महातरणि की कान्ति मिली थी,
महाशून्य को पूर्ति मिली थी, पतितों को उत्क्रान्ति मिली थी,

प्रथम जागरण नव विकास का भ्रमित भूमि को हास मिला था,
पख मिले थे पाषाणों को, अब-पवन को शान्ति मिली थी,
आह आज इस जर्जर जग का खोया, वर्षोपान सहारा।

(४)

पुनः बुद्ध अवतीर्ण हुए, या जन नायक ईसा फिर आये,
पावन मूसा या कि मुहम्मद, कन्फ्यूशियो स्वर्ग से धाये,
वह इन सब से भी व्यापक था, वह सब का उदार मिश्रण था,
मानो अखिल विश्व संचालक, पुनः लौट कर मोहन पाये,
नवयुग को नव मुसकाने दे, प्राण दिये, तम को संहारा।

(५)

मरु की प्यास बुझाने वाला जलद कहाँ है अमृत वर्षी,
जीवन-वाणी दाता शव को, नाद मौन वह मर्मस्पर्शी,
कहाँ गया वह व्यक्ति, अखिल की जो मर्यादा बन कर आया,
इन कमलो का अस्त दिवाकर वह मुसकान भरा, प्रियदर्शी,
अरे महासागर, तू तन का भंग कर गया क्षीण किनारा !

(६)

बिलख रही शिर पटक-पटक कर ये करुणा सागर की लहरे,
ज्योतिहीन है नभ की आँखें, जड़ीभूत तारों की सिहरे,
हृदय विदीर्ण हुआ धरिणी का, मानवता कंगाल अकिंचन,
शिशु से सद्गुण क्रन्दन करते, "अब किस महा हृदय मे ठहरे,"
दुख बोझिल मानवता को निर्गलित कर रही सी तम-धारा।

(७)

कर्णधार अब किसके बल, भव तरी जर्जरा पार लगेगी,
देव ! कौन वे दृग् जिनसे ऐसी करुणा की धार लगेगी,
पिता ! तुम्हारे इन अनाथ शिशुओं को कैसे धीर बँधेगी,
सेनानी ! इस तिमिर-व्यूह का कौन शक्ति संहार करेगी,
प्रभु ! अब इस सूने मंदिर में, किसको पूजेगा जग सारा।

(८)

पत्थर पर लिख चले रक्त से, बापू ! ये अंतिम कुर्बानी,
त्याग दिया वह विश्व, रहे जिसके अनन्य अब तक अभिमानी,
विश्व वन्हि ! क्या बुझा सकेगा तुझे अखिल आँखों का पानी,
चंडी ! अब तो बुझी तुम्हारी नरशोणित की प्यास पुरानी,
'कुशीनगर' 'कर्बला' आज. दिल्ली, बिड़लागृह तीर्थ हमारा।

(९)

अमर ! अमर उस महाकाव्य की, ये इतिगाथा अमर रहेगी,
अमर माघ की प्रथम पंचमी, तीस जनवरी अमर रहेगी,
अमर महानिष्कृति की संध्या, शुक्रवार, वह रंजित श्रेणी,
रक्तस्नाता अंतिम शैय्या, सभा-प्रार्थना अमर रहेगी,
और क्षणिक सम्पर्क प्राप्त, लो अमर रहेगा वह हत्यारा।

(१०)

विश्व हृदय की थाम धड़कनें दुखमय महागमन सुनता है,
चेतन्मों की कौन कहे 'यरवदाचक्र' भी शिर धुनता है,

आँसू बहा रही सी गीता, लकुट-लकुट सा लोट रहा है,
कालिन्दी का बदन श्याम, भू राजघाट रामधुनरता है,

शनि की इस तृतीय पदी में, लो चूम उठा तुमको अंगारा।

(११)

जाओ अमर अलोक को बापू, किन्तु न हम विस्मृत हो जाएँ,
जिन्हें जगा पाये युग-श्रम से, देव न वे फिर से सो जाएँ,
नोआखाली की परिव्रज्या, अंतिम व्रत हम को आँखें दे,
कल की भूलों को दुहराते हम न तिमिर में फिर खो जाएँ,

ध्रुव से ज्योति अटल उस नभ से बरसाना आशीष त्रिधारा।

(१२)

रामनाम के संग-संग ही रावण की है अमर कहानी,
कृष्णचंद्र से कंस अमर हैं, अमर व्याधशर चूक पुरानी,
नाथूराम गोडशे! यह जग यह जघन्य कृति याद करेगा,
एक महाकादर था जिसने देश-नाश की मन में ठानी,

सत्य, तपस्या, न्याय, अहिंसा, समता को जिसने संहारा।

(१३)

यहीं मसीहा की शूली थी, दुर्वासा का शाप यहीं था,
गरल चषक सुकरात गुरू का वह दशरथ का चाप यहीं था,
'जोव' 'मोर' की ज्वाला शैय्या, यहीं कर्बला का वध-क्षण था,
यहीं प्यास शाश्वत दिल्ली की, और विश्व का पाप यहीं था,

सन्त! आज जिससे आकुल हो परमपिता ने तुम्हें पुकारा।

(१४)

गयी आज जग की पारसमणि जिसने कोटि सुवर्ण बनाये,
वह मायावी, अंध-वधिर जग के नूतन दृग-कर्ण लगाये,
चरणधूल राघव की जिससे इतने पत्थर प्राण पा गये,
वह धन्वन्तरि, रुग्ण जगत के आशा सपने तरुण बनाये,

एकाकी वरदान खो चुकी, भू अभिशप्ता, जर्जर भारा।

(१५)

देव और भी दिव्य हो गये, चमका ज्योतित नभ में दिनकर,
लुटे और भी दीन अकिंचन, और भरा सम्पन्नों का घर,
एक मात्र शतदल मुरझाया, सूखा तीर्थ. अकेला पुष्कर,
स्वर्ग कर रहा मोदक वितरण, पीड़ित और हुए पीड़िततर,

उठ कर एक शिखर धरिणी का पतित स्वर्ग का बना सहारा।

(१६)

वह अपहृत मुसकान हमारी, लौटा दो मुसकाते हिमकर,
आशा-सपनों, इन्द्रचाप बन, और हँसो मत लुटी धरा पर,
अलका और अधिक गौरवमय, एक कुटी के अवशेषों से,
लहर चेतना चुरा हमारी, मंदाकिनि मत बहो शीघ्र तर !

एक लोक मत और बढ़ा लो, हाय, डुबा कर द्वीप हमारा।

(१७)

नयनहीन का लकुट छीन कर बजती किसके घर शहनाई,
एक विश्व को पितृहीन कर पुत्रोत्सव की धूम मचाई,

भरतखंड का हृदय खंड कर, माँग पोंछ ली वसुन्धरा की,
मृत्यु ! कभी अपने जीवन में की ऐसी अनमोल कमाई !
चिते ! कभी तेरी ज्वाला ने अपनाया इतनों का प्यारा ?

(१८)

उजड़े से जग को उजाड़ कर, तुमने अपना स्वर्ग बसाया,
गरल दिया हम को पीने को, तुमने सुधापात्र अपनाया,
बुलबुल का संसार लूट कर, तुमने अपना कंठ सजाया,
आह ! हमारे कल्पवृक्ष से, तुमने मनचाहा सब पाया,
वामन बन फिर एक भिक्षुणी की निधि को ही हाथ पसारा।
नभ से टूटा भाग्य-सितारा।

पतझर की रात

पतझर, प्रतिपल अविरल पतझर।

मानो सम्पूर्ण दिशाएँ छा, पीड़ा की वाणी गयी बिखर।

वे शुष्क पत्र अपराधी से, परित्यक्त भगाये जाते हैं,
उनके अनन्त निर्वासन पर त्योहार मनाये जाते हैं,
दुर्भाग्य प्रताड़ित-सा करता कर ले समीर कश बार-बार,
जैसे प्रभुता के द्वारे पर निर्धन ठुकराये जाते हैं।

कल था जिनका सौभाग्य दिवस, वे गिरते-फिरते इधर उधर।

प्रतिपल, झरझर, अविरल पतझर।

उस महानगर की सड़कों पर, कोई भटका दिन भर हताश,
दुर्बल पांवों पर भार बना संध्या को लौटा श्लथ-उदास,
निद्रा में भूख भुलाने को, कंकाल सौंपता शैय्या को,
असफलता, पीड़ा, तिरस्कार, करते अभाव विद्रूप-हास।

अपनी नगण्यता से विपन्न वह सुनता पत्तों की 'खर-खर'।

खर-खर, सर-सर अविरल पतझर।

वह शिर ऊँचा कर चलता था, अब नीचा करके चलता है,
खिल-खिल का झरना सूख चुका मुसका कर निज को छलता है,

ठुकरा कर कोई सिखा रहा उसको प्रतिपल बनना विनीत,
मन की मादकता राख हुई, अब अमर वन्हि में जलता है,
यह है अभाव की महाज्वाल जो जला रही है स्वाभिमान,
वह क्यों, उस जंसे लाखों ही बनते पूजित से पथ-पत्थर।

आती जाती रहती सदैव मानव जीवन में भाग्य लहर।

* * *

निद्राहारी नव दृश्य-चला, बीते हैं प्राय: वर्ष चार,
वह सपनों की आलोक रश्मि, वह एक हृदय पावन उदार,
मन में प्रफुल्ल नंदन ले कर, जीवन बिखेरने आया था,
पर भाग्यदेव की लीला थी, जग पड़ा मोह मन में अपार,
वह मोह बढ़ा इतना, जितना बढ़ कर आवश्यक घट जाना,
जसे हो मदिरा का उतार, अथवा भाटे मे ढला ज्वार,
वह यही कहीं की एक बात, पर बीत चुकी सो बीत चुकी,

पथ पर वह आज मिला सहसा, बहु रोगग्रस्त, निर्धन, जर्जर,
उसके जीवन का नव वसन्त ले नया रूप बन के पतझर।

अविकल अविचल-चंचल पतझर।

वह पतझर तो अब भी बहार, पर और किसी ही मधुवन में,
वह किसी अन्य दृग् की पुतली, मधु स्वप्न नये मादक मन में,
पर, इन तरु वृक्षों के समान, वह तरुण न पायेगा वसन्त,
जिसका इतिहास मुखर झांका, सूनी हताश नत चितवन में,
कहता परिचित संसार "अरे, यह कैसा तुम में परिवर्तन?

क्या प्यासी किरणें चूस गयीं वह मधु-रस-कलरव का निर्झर ?"
वह कहता मेरे आंगन में उस दिन ऐसी बिजलियां गिरीं,
सम्पन्न हरे तरु ठूंठ हुए, खंडहर हुआ भीतर-बाहर।
निर्दय घन-शर, घातक पतझर।

अब बीत चुकी आधी रजनी, अजगर-सा नगर घरे अचल—
अपनी गोदी में सुला रही; पर उसको मानो शाप मिला,
"तू कभी न सोयेगा सुख से ! इस ओर चीखती एक ट्रेन,
उर ओर हृदय की धड़कन सी 'लालिमली' टावर-घड़ि चपला,
गुंजन रेखा-सी खिंच जाती निशि की छाती पर क्षिप्र 'कार'
करता उलूक आखेट नयी, कटहल पर कोलाहल मचता,
किस चिड़िया का सौभाग्य लुटा ? हो गया कौन हतभाग विधुर ?
पर मेरे जग के इस क्रम में लक्ष्मीवाहन को किसका डर।
चाहे वसन्त हो या पतझर।

जिनके दारुण संताप तप्त ये चिमनी करतीं धूम्र वमन,
जिनके श्रम सी-कर ले गंगा इस अधम समय मे भी पावन,
जिनको कोई आभास नही कब आता पतझर या वसन्त,
जिनके क्लेशों का आदि जन्म, इति तब जब इति होता जीवन,
वे श्रमिक अभागे जाग रहे, भरते पूंजीपतियों के घर,
परजीवी ! तेरे नन्दन में घुसने से क्यों डरता पतझर।
खर खर, अंसल खर खर पतझर।

ठुकराते पग में रक्त बहा, थोड़ा-सा जन पथ के पत्थर,
यों बैठा क्यों सन्यासी बन, अपनी निजता की हत्या कर,
पागल ! तेरे सद् अर्जन का तप तुझ को ही करता कातर,
उस ओर इसी बल पर उड़ता पापी पाखंड बना नभचर,
सोये नवयुग के निर्माता, घर में घुस लूट रहे तस्कर,
जीवन की नयी लहर ला दो, परिवर्तन क्षिप्र करो पतझर,
मेरी वाणी में दे दो स्वर, अपनी गतियों को करो प्रखर।

चेतन अमोघ शर-खर पतझर।

(१४)

नवयुग

है ज्ञात मुझे इस वन में नवयुग आया,
अब दूर हो उठी स्वप्न,शान्ति, तम-माया।
बहुमत से ही निर्णय का चलन हुआ है,
सम्मति-बहुलों का व्यापक चयन हुआ है।
तुम अब भी भूषण-वसन प्रसाधन-मग्ना,
सीखो कुछ होना, आगे बढ़ना, जगना।
नारी-रत्नों से आज देश को आशा,
हिटलर सा पत्थर जिनको हुआ बताशा।
हैं नारी क्या न गवर्नर, लीडर मंत्री,
जो कल तक थीं केवल नर-चालित-यंत्री।
तुम व्यर्थ कुपित हो पहले क्यों न बताया,
तुमको ही होता प्रेसीडेन्ट बनाया।
अब तो भूलो निर्वाचन की अभिलाषा,
परिपक्व और हो ले अधिकार पिपासा।
तन्वङ्गि ! बताओ तो फिर भी क्यों रूठीं ?
भंगिमा आज की निपट नवीन अनूठी।
क्या तुम्हें लगी सत्याग्रह की बीमारी ?
क्या आज भुवन में अनशन की तैय्यारी !

निर्ज्योति दृगों सा चूल्हा मुख फैलाये,
हैं भाजन वसन मेह भर में बिखराये ।
तुम वायुयान चालिका बनो, उड़ जाओ,
ऊपर से हम पर अणुगोलक बरसाओ ।

क्या यही स्वामियों के हित दंड चुना है,
युग के शापों ने या षड्यंत्र बुना है ?
क्या कोप-भवन-लीला की मन में ठानी,
मैं नृप दशरथ सा, न तुम कैकयी रानी ।

मैंने कब कब आश्वासन दिया अधूरा,
अथवा कोई प्रण किया आज तक पूरा ।
सुभगे ! क्या तुम पर चला देशमुख टौना,
क्या सचमुच अब मेरा सम्पर्क घिनौना ?

यह भी हो, तो भी तुम ही उत्तरदायी,
मैं हूँ समर्थ जो होते ही अन्यायी ।
क्या हिन्दी सी मचलीं हो अधिकारों को ?
तो मुक्त करो भी द्रोही उद्गारों को,

यों जनता तो तुम नहीं भवन की रानी,
फिर भी दो अपने अभियोगों को वाणी ।
मैं 'अहम' विषय मानूँगा सब बातों को,
सह लूँगा हँस आघातों, उत्पातों को ।

ओ मानवती ! यह नीरवता उलझन है,
तुम को पतित्व मेरा क्या नहीं सहन है ?
लो, मैं घोषित जनतंत्र कर रहा घर में,
अब हाथोत्थान प्रणाली निर्णय कर में।

हम दोनों सब बच्चे होंगे मतदाता,
साथी पन ही अब एक हमारा नाता।
तुम को स्वीकार न हो यदि घर का शासन,
तो लो अब से अर्जन, रक्षा, उत्पादन।

कल तक तो जो कहता सो करना पड़ता,
पर, नयी व्यवस्था से अब प्रति पति डरता।
अब तक तो घर के 'बिल' के ही थे लाले,
आगे घर होने के भी लक्षण काले।

तुम लो यह गौरव, और, मलूं बर्तन मैं,
चूल्हा तप लूं, या करूँ बाल-पालन मैं।
हम बाँट-बाँट हर काम करे घर बाहर,
पर, एक बड़ी अड़चन का कहीं न उत्तर।

मुझ को निसर्ग ने भिन्न प्रकार बनाया,
धारण करने का तुम सा अंग न पाया।
मैं तब सहर्ष तुम को देता पति-पदवी,
घर में बैठा बस फेरा करता 'तस्वी'।

बस तनिक तिनक कर भूषण वसन मँगाता,
संघी सत्याग्रह के नित दृश्य दिखाता।

तुम सा, पर, दुहरा वेष न होता मेरा,
इतना निर्बल आदेश न होता मेरा।
रजनी सा दिन का रंग तभी होता है
शृंखला-मुक्ति का संग कभी होता है ?
तुम भूषण-बधन और मुक्ति को मचली,
हो एक साथ ही अग्रगामिनी-पिछली।
सखि ! नर्स-सिपाही एक नही होता है,
सब पा लेने का लोभ, भूल खोता है।
मैं वेता, ईश्वर नही, तुम्हारा स्वामी,
म साथी हूं, जीवन पथ का सहगामी।
हम हैं समभागी, आज एक मति होंगे,
इस क्षण से एक उमग एक गति होंग।
ग्रह संचालन था भार, सेज का काँटा,
अब हाथ उठा कर वह भी हम ने बाँटा।
बहुमत कर देगा अब बच्चे को बच्ची,
कुत्ते को बकरी, वा झूठी को सच्ची।
दो हम, सब बच्चे चार, छहों मतदाता,
है प्रकट कि उनका मत होगा निष्ठाता।
वे अनुशासन तोड़ेंगे, नहीं डरगे,
जो बुरा भला भाएगा वही करेंगे।
नव्वे प्रतिशत अपढ़ों में भी क्या होगा ?
अवसरवादी बदलेंगे झटपट चोगा।

या ज्ञान-नयन से हीन भिड़ा कर कंधे,
आँखों-वालों को भी कर देंगे अंधे।

वह सब कर लेगा जो हो बहुमत वाला,
प्रभुता का लग जाता प्रति मुख पर ताला।

दो आँखें उठते लाखों हाथ उठेंगे,
मति वाले मत से रहित न कहीं टिकेंगे।

तब कहो, कि घर में यही प्रणाली प्यारी ?
या स्वीकारो सखि मैं जीता तुम हारी।

है पुरुष, पुरुष, बल विक्रम साहस-धारी,
सुंदरि ! तुम कोमल, भावुक, जननी-नारी।

----

(१५)

अंतर

है स्वर्ग तुम्हारा और कहीं,
है स्वर्ग हमारा और कहीं।

ओ शम-दम में घुटती श्वासो ! हम जीवन के पद गाते हैं,
हम भूले जो तुम सीख रहे, नव जीवन में लहराते हैं,
बहती मधु की यह कालिन्दी, यौवन करता नित स्नान जहाँ,
हैं मिट्टी के ही भक्त और मिट्टी के ही भगवान यहाँ,
तुम निराकार से धन्य रहो, साकार हमारा मधु-छाता,
तुम पाने की अभिलाषा लो, हम पीने के वरदान यहाँ।
क्यों अभिशापित तुम सिसक रहे यों देख हमारा मधु-उत्सव ?
यौवन, प्रवाह, मद के क्षण हैं, पीते हैं और पिलाते हैं।

उस पार तुम्हारे मधु मंदिर,
चलते हैं अपने 'दौर' यहीं,

तुम चाहो तो माला जप लो, हम चाहें तो पूजें प्याला,
तुम चरणामृत को तरस रहे. है यहाँ अधर पर मृदु हाला,
ताको तुम शून्य उपेक्षित से, है जहाँ तुम्हारे स्वप्न-सदन,
आजीवन करो प्रतीक्षा ही, कब होता इंगित, आवाहन,
तुम ही निज पर प्रतिबंध धरो, हम को बंधन की चाह नहीं,
हम घोल चुके इस प्याले में 'मैं-तू' के घातक विभ्रम-कण।

तुम झुलसाओ जीवन अमोल, तुम करो समय का व्यर्थ हनन,
हम करते तनिक पुकार तभी, बाहों में होती मधुशाला।

इस मंदिर में यह नियम नहीं,
"जाओ अछूत हो!, ठौर नहीं।"

हम को तो तुम से बैर नहीं, तुम क्यों हो हम से रुष्ट व्यर्थ ?
सब के अपने अपने विचार, जीवन के अलग अनर्थ-अर्थ।
तुम कल पा लोगे, इसीलिये सपनों से भरते नभ अपना,
हम वर्तमान के विश्वासी, सत्यों का रुचिर हमें जपना।
हम किस अमूर्त से प्यार करें कल्पित आनन्द मनाएँ क्यों ?
क्या नहीं सुलभ इस धरती पर, जो माँगें अंबर का सपना,
जो होना होगा, हो लेगा, किसका भविष्य पर अनुशासन,
भू पर ही स्वर्ग सुलभ होगा, तुम सीखो तो बनना समर्थ।

तुम भव में डूबो उतराओ,
अपना, पर, भीगा छोर नहीं।
है स्वर्ग तुम्हारा और कहीं,
है स्वर्ग हमारा और कहीं।

——

(१६)

बुद्बुद् गीत

गाते कालिन्दी के बुद्बुद्--

भू के प्रति कटाक्ष पर गलते, सहृदय जलधर अमर रहेंगे,
मदमाते कजरारे दृग्शर से बींधे मन मुखर रहेंगे।

नव कलि-किसलय, मादक परिमल, मधु आकर्षित ये मतवाले,
अधर चषक से नवजीवन रस पीन और पिलाने वाले,
कोमल चरण बढें तों कर्कश पथ पर गीत बिछाने वाले,
जग के श्रुति-कटु कोलाहल में, प्रेम-सुधा बरसाने वाले।

नश्वर जग को भूल चुके जो, वे गुंजन क्षण अपर रहेंगे।

डगमग मस्त चरण के नीचे, सिहर रही पुलकाकुल धरिणी,
इन श्वासों की सुरभि बनाती मरुथल को ऊर्म्मिल पुष्करिणी।
देखो तो अपने विभ्रम में घूम रही भू, नाना वर्णी,
वैतरिणी में डूबे कोई, बने किसी को प्याला तरिणी !

इस अभाव की व्यापकता में भाव भरे भी प्रहर रहेंगे।

बुद्बुद् हैं, क्षण भर जीवन है, कलियों सा पल भर सुहास है,
एक निमिष चपला सी चमचम, नन्हा जुगनू सा उजास है,
रस उर में जाते ही विस्फोटित होता ज्वाला-गिरि यौवन,
जो पुकार दिक् व्यापक स्वर में कहता "कितनी प्रबल प्यास है"।

अजर पिपासा की परम्परा, प्रखर तृप्ति पल सस्वर रहेंगे।

---

(१७)

जिज्ञासा

तुम कौन अपरिचित आकर्षण ?

अंगार-भरे जीवन-पथ पर क्यों इतना सुमनो का वर्षण ?
जितना मैं तुम को देख रहा, उतनी ही होती चाह प्रबल,
इस स्वप्न-पूर्ण से जीवन में, उगते अभाव अभिनव पल-पल,

दुख सुख में परिवर्तित होते,
गायन में ढल जाते क्रंदन।

किस सर्पिल गति से सरक रहा, लहराता सा मद आतुर मन,
मधुमय मुसकानें भर जातीं, मुझ मे अनजाना पागल-पन,

तुम क्यों मुझ पर इतने उदार,
इतना ममत्व क्या निष्कारण,

प्यासा सूनापन पीता है, व्याकुल हो मधुरव मादक रस,
भरते जाओ बस इसी भाँति, हो कृपण न कल कह देना "बस"।

दो तनिक सहारा बाँह बढ़ा,
मुझ से न सम्हलता अपना-पन।

पहली चितवन के पाते ही, यौवन ने तुम को खोजा था,
दारुण भव ताप तपे झुलसे, तन मन ने तुम को खोजा था,

अब तो अंचल में अभय करो,
ये लघु प्रकाश के कण चेतन।

----

(१८)

समाधान

मै इस तपते पथ की छाया।

ओ भव पथ के श्याकुल पंथी, मेरे मन में ममता-माया।

ज्वाला झुलसे, पथ-श्लथ आओ, जीवन का जीर्णोद्धार करो,
संकोच-ग्रसित सिमटे मन का, नव सपनों से विस्तार करो,

मै उत्तर सभी पुकारों की,
मैंने जग जय जग कर पाया,

यों तो न कभी हम दूर रहे, परिचय क्यों पूछ रहे मुझ से,
हम मिल कर जीवित, हरित करे, सुकुमार लता-पादप झुलसे,

हम मिल कर दोनों पूर्ण सदा,
तुम प्राण और मै हूँ काया।

मै एक समर्पण की अंजलि, आओ मेरे भगवान बनो,
मै दुखी साधना की पुकार, तुम चिर वांछित वरदान बनो,

हम तुम तो अन्योन्याश्रित हैं,
तुम वृक्ष और मै प्रतिच्छाया।

आओ भविष्य निर्माण करें, बन प्राप्य-प्राप्ति, मधु-गीत श्रवण,
हम बादल-बिजली, गंध-सुमन, रवि-किरण नीर-पय, प्रगति-चरण।

हम लहर-नीर-निधि से अभिन्न;
मत कहो कि "मै हूँ ठुकराया।"

अभिशाप जहाँ मिलते तीखे, वह स्वर्ग नहीं, अपवर्ग नहीं,
जो निर्मम हो कर भूल चुका, वह अविकारी उत्सर्ग नही,

असमय क्यों मुरझा जाय सुमन,
जो गध हर्ष देने आया।

----

(१९)

अर्घ्य

अंजली भर भर कर ओ प्यार

व्योमपति ! वितल यहाँ में नीच,
खड़ा हो भव सागर के बीच,
उमड़ती पोड़ा की हिल्लोल,
आँसुओं से दूं तुम को अर्घ्य ?

अञ्जली भर भर कर ओ प्यार।

हरण कर लेता पाया ज्ञान,
अकल चीत्कारों का अभियान,
डुबा लेती सी यह दुख ज्वार,
वेदना का दूं तुम को अर्घ्य ?

अजली भर भर कर ओ प्यार।

प्राण, तुम लेते लहरें खींच,
शष रह जाती कुत्सित कीच,
विकृत-क्षत शख-सीप शवाल,
अभावों का दूं तुम को अर्घ्य ?

अञ्जली भर भर कर ओ प्यार।

तुम्हारी किरणों से द्युतिमान,
चमकते जो रजकण छविमान,

हो चुके हैं इतने बलवान,
छीन भी लेते सारा अर्घ्य।

अञ्जली भर भर कर ओ प्यार।

डराते नख-रद से जलचर,
प्रताड़ित कर छिपते सत्वर,
मर्म व्रण, पीर रुधिर के स्राव,
रक्त का ही दूं तुम को अर्घ्य ?

अञ्जली भर भर कर ओ प्यार।

थपेड़े व्यंग्य, अबलता, बर्त,
कर चुके अक्षम गहरे गर्त,
हुआ जाता मैं तो लयमान,
श्वास का तुम्हें समर्पित अर्घ्य।

अञ्जली भर भर कर ओ प्यार।

— —

(४०)

अप्रत्याशित

देव ! तुम भी करते उपहास ।

प्यार क्या तुम भी हो पाषाण ?
व्यर्थ ही था मेरा अभिमान,
तुम्हारी चितवन ने सस्नेह
न मेरा किया कभी आह्वान ?

अरे, इन जग-जीवों की भाँति
छलोगे क्या तुम भी विश्वास ?

यहाँ तो मै सब को उदमान,
किन्तु अब तक था यह अनुमान,
नश्वरों का नश्वर है ज्ञान ।
कान में था कोई मधुगान,

गुद्गुदी बन कहता था कौन,
"यहाँ भी है मेरा आवास"

आह ! मेरे जीवन-धन-मान,
"करूंगा तेरा अभ्युत्थान"
हटा वासना मोह व्यवधान,
भरा माटी म तुमने प्राण,
उलट अवगुंठन कल स्वयमेव,
दिखाया शाश्वत दिव्य प्रकाश ।

विश्व की व्यंग्य भरी दुर्दान्ति,
प्रभंजन जननी ध्वस्ति, अशान्ति,
बुझाती रहीं एक लघु कान्ति,
हार बैठी हो विफल नितान्त।

हटाओ मत अंचल की ओट,
कराओगे फ़िर तम में वास ?

भग्न करते क्यों निज आवास,
सुमन-सपनों सज्जा का नाश,
न जीने पाये लघु सा हास ?
करो मत इतना क्रूर विनाश।

हृदय का कांप रहा विश्वास,
देव ! जीवित रहने दो आश।

(२१)

प्रेम

देव ! मुसकाते गगन में ।

शशिमयी, मधुसिक्त छवि की अमियता भर के नयन में ।

बिन्दु बनते क्षुद्र रजकण, किलक में उन्माद वर्षा,
दृष्टि पड़ते ही शिलाएँ, द्रव उछलतीं मत्त हर्षा,

भिक्षु भी सम्राट होते, प्यार के स्वर्गीय क्षण में ।

इन्द्रधनुषी ऊर्म्मि पंखों की प्रगति वरदान झरती,
सिहर पुलकित वायु प्रतिक्षण में अनोखे प्राण भरती,

एक चितवन मात्र भरती छवि मधुर देवत्व तन में ।

उड़ रहे सापक्ष हिलखिल कामना, आशा समर्पण,
ज्योति, आकर्षण सुनहले चित्र, स्वप्नोत्साहवर्द्धन,

गीत से मृदुतर प्रति-ध्वनि गूंजती नभ नग-विजन में ।

तुम नगों को गुदगुदाते, कर रहे आनन्द वितरण,
सृष्टि क्रम के अमर रक्षक, गीत कवियों के चिरन्तन,

धूल-धूम उजाड़ रहता पथ तुम्हारे द्रुत गमन में ।

शून्यता, शिर-शीर्ण अहमति, घोर, लघुता, तम, निराशा,
तिक्ति, अवहेला, विशृंखलता, विवशता, रुद्ध भाषा,

भय, व्यथा चीत्कार बसते उस स्वरित गुंजित सदन में ।

ओ किरणदाता, मधुर उल्लास को यदि आयु देते,
छटपटाते विष पिये से शेष को बल-वायु देते,

धड़कनें अपनी न चुभतीं यदि किसी सुकुमार मन में ।

---

(२२)

आजा मेरे स्वप्न

आजा मेरे स्वप्न पुरातन।

बुला रही है जागी आँखें, अंतर का बढ़ता सूनापन।

तेरे खो जाने से मेरे जीवन का निर्माण खो गया,
तेरे सो जाने से कोई शक्ति भरा उत्थान खो गया,

हृदय, नयन वाणी की शोभा,
आजा मेरे सतत सुगायन।

तुझ में अपने को देखा था, तुझ से दूषण-भूषण जाने,
तेरे ही उज्वल आनन, में अपने शाप-ताप पहचाने,

ओ खोये आदर्श, गिर गया,
तेरे बिना एक आराधन।

मुझे पुनः उद्ग्रीव बना जा, फिर लादे मेरा मेरापन,
उसी लगन से, अविचल प्रण से, चले पंगु हो बैठा साधन।

मुझे अभी कुछ कर जाना है,
शेष अभी कुछ जीवन-यौवन।

तन मन के अभाव, दुर्बलता हर लेती थी तेरी चितवन,
तेरी एक झलक से सोता, यह पार्थिवता का पागलपन।

हटते तेरे होने भर से,
पथ के शूल, तिमिर, भ्रम-उलझन।

पावन पावक की लपटों में, दुख, तम, अघ के भार जल सकें।
अमिय शक्ति-संतोष दान कर, कलरव के आधार पल सकें।

जीवन व्यंग्य न हो जीवन का,
ऐसा फिर कर जा परिवर्तन।

---

(२३)

विदा के क्षण

विदा के गीले करुणा क्षण ।

नील में तारों के कम्पन,
व्यथित मन, नयनों में जलकण,
और वह विह्वल परिरंभण।

क्षितिज अधरों पर वह सिहरन,
विदा मुसकान, विदा जीवन ।

हास का असफल सा उपक्रम,
शब्द के प्रति प्रयास अक्षम,
शिरा कंपन, घुटती सी दम,
हुए 'मैं तू' जो थे वह 'हम'

संगिनी ! मौन मोद गायन ?
टूटते से अटूट बंधन ।

छिपे कोई लोहे से हाथ,
(क्रूर चुभते रंजित वे हाथ,)
झुकाये गये विवश दो माथ,
"आज से और नहीं हम साथ।"

आह, वे दारुण विष-दंशन,
रुधिर का व्रण-व्रण से वर्षण ।

हाथ से छूटा अंचल छोर,
गिरा कोई नीचे की ओर,
किन्तु उलझी चिन्तन की कोर,
प्रणय की कितनी लम्बी डोर,

चुभन बन-बन जीती बिछुड़न,
ठोकती पीड़ा उर पर घन।

सुमुखि! कल के अनेक आह्लाद,
शेष हैं जिनकी केवल याद,
उठाता रहता पागल नाद,
सिन्धु सा सीमातीत विषाद।

'प्राण' से हीन आज क्यों 'तन'?
हृदय-धन से वंचित जीवन।

———

(२४)

अशेष सुधि

नयी नित होती कोई याद।

किरण बालाएँ आ चुपचाप,
खोलती अवगुंठन अभिराम,
निशा का तिरोभूत शृंगार,
हृदय में भर जाता अवसाद,
और आ जाती कोई याद।

क्षितिज पर आँख-मिचौनी खेल,
दिवाकर होते संध्यालीन,
बिखर जाते स्रम-सीकर पुंज,
नियम से बढ़ता तब अपवाद,
और आ जाती कोई याद।

जल रहे व्योम-धरा, सब लोक,
दौड़ता हाँक रहा पवमान,
थपथपा जाता मेरा द्वार,
जाग पड़ते आशा-उन्माद,
और मिलती बस कोई याद।

पिशाचों से हँसते घन-श्याम,
नग्न कर में ले स्वर्ण कटार,

पापिनी सी फिर काली रात,
नियंत्रण कर देती बरबाद।

बरसती बूंद-बूंद बन याद।

टपक जाती आँसू सी बूँद,
नूपुरों सी कर मृदु झनकार,
गूंज उठते झींगुर के गान,

उठा कर विस्मृति के आच्छाद,
झाँकती चपल चुभन सी याद।

शरद की धीमी मदिर बयार,
दूध से धुला नया ससार,
शान्ति का दे उठते उपदेश,

मौन हो पिक-चातक के नाम,
किन्तु स्वर पाती नीरव याद।

शीत कर उठता अत्याचार,
कशों के दे कठोर आघात,
धरा छवि की करता है लूट,
शिशिर सा जब कोई मनुजाद,

सजग हो उठती कोई याद।

नये पल्लव-प्रसून का जन्म,
कोकिला की अभिनंदन तान,
सफल भुवनों का नव शृंगार,

विश्व भर में भरता आह्लाद,
अश्रु में ढलती कोई याद।

संगिनी ! होती यदि तू पास,
नहीं भूली, होता विश्वास,
सुमुखि, मैं कातरता को फेंक,
शाप भी सह लेता साह्लाद,
पी चुका होता तिक्त विषाद।

गा रहा जग फागुन के गीत,
रो रही छिप कर कोई याद।

(२५)

तुम होते तो

तुम होते तो करते न सहन ।

जब भूख शिशिर पीड़ित इतने असहायों के सुनते क्रन्दन,
तुम होते तो करते न सहन ।

इतने हों बेघर, दुखी अधन, निष्कर्म, विशृंखल, अधोवदन,
अशनाच्छादन की वेदी पर, चढ़ते हों उज्वल नव जीवन,
तब हाय, हमारे जनसेवी, लें इतने बड़े-बड़े वेतन ।
तुम होते तो करते न सहन ।

लज्जा, सतीत्व तन बिकते हों, फिर भी न चला पाते जीवन,
भूखे शिशु बनते गिरहकाट, दुष्कर्म प्रवृत होते यौवन,
तब लाखों रुपये स्वाहा कर हो एक किसी का अभिनन्दन,
तुम होते तो करते न सहन ।

जितने से होती सहजपूर्ण, एकाध प्रांत की अर्थ मांग,
नूतन विकास, सुविधा-प्रसार, विद्यत कूपोन्नत विरस भाग,
उतने से अधिक अपव्यय कर सजते भारत के दूत-भवन ।
तुम होते तो करते न सहन ।

जिस भारत के आदर्श त्याग, सादगी, प्रेम, तप, सत्य, मनन,
अब भी प्रति मानव कुछ पैसे, जिनके श्रम का नित मूल्यांकन,

उसके विकीर्ण कंकालों पर, पद-पूँजी का लख गठबंधन।
तुम होते तो करते न सहन।

ओ भारत आत्मा के प्रतीक, ओ मूर्तिमान आदर्श, संत,
ओ लकुट लँगोटी में प्रसन्न, उस महाशक्ति के व्यक्ति संत,
जनतंत्रवाद की धमनी में, यों देख निरंकुशता विष-कण।
तुम होते तो करते न सहन।

किस भाँति गिर रहा भहराकर, युग-युग निर्मित तव स्वप्न सदन,
उपहास्य हो रहा पूत नाम, प्रत्येक अनय का बन कारण,
अपने चित्रों के पास देख, वैषम्य, अनय, उत्कोच-ग्रहण।
तुम होते तो करते न सहन।

उस महाक्रान्ति की सेना का, यदि आज देखते अनुशासन,
सेवा-कर्त्तव्यों से विराग, मुद्रा-माला में आकर्षण,
आसन-भाषण-नभ यान, वाद, या शिलान्यास या उद्घाटन,
मिट्टी का भीषण दर्प देख, अपनी शिक्षा का उन्मूलन।
तुम होते तो करते न सहन।

---

(२६)

अरुणोदय

प्राची में जन्मा नया राग।
खग कलरव, मधुकर मधु गुंजन तरु शिखर मत्त, ओ सुप्त जाग।
इस गहन तमालय से तुझ को कैसी उलूक सी हुई प्रीति
ये मोह, रूढ़ि बंधन, विनाश, तरुणाई को इनमे प्रतीति!
जड़ता जीवन पर्याय हुए, बुझ रही ज्योति, बुझ रही आग।
ये देख दुखी जर्जर दलिता, पथश्रान्ता दूभर भार धरे,
पथिकों से पिछड़ उदास खड़ी, नयनों में सिन्धु अपार भरे,
कर उठती कातर आर्तनाद, मुझ को भी गति दो महा भाग।
तू अभी तिर रहा स्वप्नलोक, पर जहाँ खड़ा वह ठोस मर्त्य,
तू सुधापात्र को खोज रहा, प्रस्तुत हालाहल, तिक्त सत्य,
उन्नति इतनी अनुदार नहीं, पर पय से तुझ में अधिक झाग।
पतझर की धूम दिशाओं में, ऐसे में क्या सौरभ पराग?
शोणित अभिषिक्त जिसे होना, उसको न सुहाता अगराग.
जीवन संग्राम पुकार रहा, ऐ तज विहाग, अब बाँध पाग।
जिनसे सभव निर्माण न हो, वे धरा-भार ही हैं जीवन,
बाँहों की शाभा कर्म ओर, पौरुष की शोभा कष्ट-दलन।
यह तो उत्थानों की बेला, उठ रे प्रमाद, अवसाद त्याग।

——

(२७)

सिंहनाद

अरे पींजरे के रखवाले, अब तो तनिक खोल ये बंधन
सहन-शक्ति की सीमाओं को, पार कर चुके तेरे नियमन।

काक जिसे कवलित कर डालें, कोई श्येन न होता ऐसा,
वैनतेय, सर्पों के आगे शीश झुकाना लगता कैसा ?

यों कब तक वनराज सहे, गोमायु-शशों के शौर्य प्रदर्शन ।

कब तक दारुण अपमानों में ये असमर्थ दहाड़ सुनाये,
कापुरुषों की छांह बैठ कर, पौरुष विगलित मर्म बहाये।

चरणघात होते किरीट पर, विद्रोही होता प्रतिक्षण मन।

वर्षों तो अपमान-गरल का तू ने घातक घोल पिलाया,
नराधमों के आगे नक को, शान्ति पढ़ा नतर्श श कराया,

शोभन मरण पर्व आने दे, करने दे, जौहर का साधन ।

वस्त्रों म अथवा शूलों में, यौवन-सौरभ गुप्त न रहता,
मलयानिल के झोके खा कर ज्वालामुखी प्रसुप्त न रहता,

वक्षचीर कर वसुन्धरा का तो प्रकट कप-विस्फाटन ।

लुटे शील भूखे मसले शिशु, मांग रहे शोणित की भिक्षा,
भृकुटि भ्रामित तो कर, तरुणाई पार करे फिर अग्नि परीक्षा,

सेनानी ! अंगार-दृगों से, ताक रहे सब तेरा आनन ।

जलद वज्र पर धार धर रहे, सागर लांघ रहा तट-रेखा,
मारुत हर-हर नाद कर रहा, तज समाधि, लो शिव ने देखा।

मारे ? आत्मघात करें या छिन्न करें तेरा सिंहासन ?

बोल मुक्त कर महा व्योम अब पक्षों से उन्मुक्त उठें कर,
तुच्छ क्षीण-तम धारा क्या, हम पुनः बांध, पी सकते सागर

तमीचरों के हृदय रक्त को आतुर है अब वाण-शरासन।

तलवारे म्यान अभी कैसे

तलवारें म्यान अभी कैसे, जब तक कराहता काश्मीर,
फन कुचल न पाये नागों के, जौहर को निकले हुए।।

देखो तो मेरे नन्दन मे, अब तक आतंक बने दानव,
यह स्वर्ग-धरा का झुलस रहा, खल अभी मचाये हे तांडव,

क्या हृदय विभाजित कर देगी, ऐसे कुचकियों का लकी

यह धवल हिमालय का किरीट, भारत माँ का शेखर पुनीत,
केहरि सैंतालिस कोटि जमे, वे चिर निर्भय, वे चिर अजीत,

क्या शल्य-कक्ष के शव है हम, चुपचाप कटा लें निज शरीर ?

पावन सतीत्व का करुण हरण, कोमल शैशव का उच्छेदन,
उगते यौवन की अरुणाई, निशिचार करने आये भक्षण ।

क्या दुष्ट दुशासन के प्रयास, लेंगे शोभा का छीन चीर

कर शक्ति परीक्षण चुके अभी, इस समरांगण में अनय-न्याय,
था पाप-पुण्य का घोर युद्ध, ले दानव देवों के उपाय ।
इतिहास नया लिख चुका अभी भारत यौवन का रक्त-नीर

ले नाम न्याय समझौते का, चल रहा और षड्यंत्र एक,
ठोकर खायी नरपशुता मे, थामी 'जनमत' की नयी टेक,

बस परम्परा से हिल न जाय, वह चौहानी विख्यात तीर ।

ओ स्वयंवरे, वह पूर्वराग, यह निश्चल, निश्छल, स्वार्थ-हीन,
यह जन्मान्तर की प्रीति कभी, देखना न हो पाये मलीन

हिल जाय न दृढ़ता शैलों की, चलने दो कैसी भी समीर।

रच दिया महावर चरणों में भारत यौवन ने बहा रक्त,
पूंछ लो 'पूंछ' से गदरा तक, भारती भुजा कितनी सशक्त,

पच्छिम के मुख व्याकुल विवर्ण, इस भू के विक्रम से अधीर।

बलि हुए सहस्रों नौनिहाल, बुझ गये अनेकों वंश-दीप,
रक्षा परिषद की कूटनीति, उनके न सकेगी लेख लीप,

तोपों के मुख न अभी मोड़ो, प्रतिशोध माँगती प्रबल पीर।

अत्याचारों की सुधि ले कर, रोएंगे सूने अंक हंत,
उजड़े सुहाग, लूटे सतीत्व, टूटे निकेत, झुलसे वसन्त,

कुछ और अभी कर लेने दो, कह रहे जुझारू वीर-धीर।

(२९)

गाते विहंग से

तू यहाँ प्रभाती गान न गा ।

यह नीरवता जड़ता ऐसी जिसने चिति का द्युति-कोश ठगा।
गौरव अतीत का ओढ़ वसन, सोया है मेरा वर्तमान,
फिर तमसावृत वह कोण जहाँ, जन्मा कल ही स्वर्णिम विहान,
यह मरघट, प्रेतों की बस्ती, क्षण भर भी फिर निष्प्राण हुए,
पल भर बोझिल पलकें उघार, माया विमूढ़ पाषाण हुए,
ये घोर कालनिद्रा निमग्न, मत इनकी प्यारी शान्ति भगा ।

तू यहाँ प्रभाती गान न गा ।

ये तो न जगे थे ठोकर से, संगीनों कश-आघातों से,
युग की आंधी से भी न डुले, हिल सकते स्वर-सघातों से ?
रो चुके जाग कर विगत वीर, रो चुके विकल खँडहर हताश,
जो देख चुके स्वर्णिम वसन्त, गगा, हिमगिरि, रवि-शशि उदास,
क्या अपने नश्वर बोलों से, देगा शलों के पंख लगा ?

तू यहाँ प्रभाती गान न गा ।

वे अपने विभ्रम में प्रसन्न, वे अपमानों मे भी सहास,
उनकी निंदयारी आँखों को, विषशर सा किरणों का विलास,
ठोकर थपकियाँ बन करती, उस पाहन निद्रा को प्रगाढ़,
दो बूंद सुधा ले आया तू, वे पिये गरल-वारुणी बाढ़,
उस पर न गुलालो का प्रभाव, जो भीतर बाहर तिमिर पगा।

तू यहाँ प्रभाती गान न गा ।

जागगे, बोल हिमालय का यदि इन कानों से टकराये,
गीता या लकुटी वाला फिर, इस भू पर मोहन आ जाये,
कोई प्रताप प्रणवीर, उगे, कोई ज्योतिर्मय रवि महान,
या काल देवता लौटा दे, इस युग का छीना हुआ प्राण,
छ नि चुकी राख से चिनगारी, कोई सुभाष फिर दे सुलगा।
तू यहाँ प्रभाती गान न गा।

(१०)

जनवाणी

नयी निशा, खुली दिशा अभी प्रभात, चाहिये,
हमें प्रकाश से भरा नया विहान चाहिये।

मतैक्य ही जहाँ न हो, वहाँ विचार क्या करे,
मुमूर्ष ज्योति हो जहाँ, घनान्धकार क्या डरे।
न अन्त, वस्त्र, ठौर, कर्म, दीनता कराहती,
न ध्यान कान दें जहाँ, भला पुकार क्या करे।

बढ़ीं अनेक व्याधियाँ, हमें निदान चाहिये,
हमें प्रकाश से भरा नया विहान चाहिये।

अभी विनाश पाश की सके न काट डोरियाँ,
अँगार की कराह और रामराज लोरियाँ।
सतीत्व न्याय, सत्य को सुवर्ण ग्राह ने ग्रसा,
पशुत्व धूर्तता भरीं, भरी हुईं तिजोरियाँ।

मनुष्य से जियें हमें वही विधान चाहिये,
हमें प्रकाश से भरा नया विहान चाहिये।

स्वराज पा गये मगर पता नहीं सुराज का,
जहाँ सभी समान हों, पता नहीं समाज का,
न कर्म की किरण खिलीं, बढ़ा धुंआ प्रचार का,
प्रसिद्ध-सिद्ध सेवियो, रहा न अंश लाज का।

विभक्त देह के लिये सशक्त प्राण चाहिये,
हमें प्रकाश से भरा नया विहान चाहिये।

प्रकाश-हास दे कहीं सुभाषचंद्र खो गया,
महान सत्य का व्रती, शहीद संत हो गया,
जगे अनेक पाप, एक तेज पुंज सो गया,
वसुन्धरा सुभाल का सुहाग बिन्दु तो गया।

सही प्रयाण दे सके, वही महान चाहिये,
हमें प्रकाश से भरा नया विहान चाहिये।

सुलक्ष्य दूर है अभी, सुपंथ भी बना नहीं,
नवीन हाथ ने प्रवीण शिल्प को जना नहीं,
अनेक फूल एक तार प्यार से गुँथे रहे,
वही न कर मिला हमें, वही न स्वर सुना कहीं,

हमें न दान चाहिये, परन्तु ध्यान चाहिये,
हमें प्रकाश से भरा नया विहान चाहिये।

समाधि से शहीद जाग साश मन निहारते,
अनेक दीप हो सतेज पथ को निखारते,
अतीत स्वर्ण चाहता कि वर्तमान में जिये,
'निराश मत करो हमें' सभी यही पुकारते।

न रत्नवान दो, हमें प्रयत्नवान चाहिये,
हमें प्रकाश से भरा नया विहान चाहिये।

बड़े सपन सुहावने विकास के, सुधार के,
चढ़ाइयाँ अगम्य और पांव भी उधार के,
सुनीति के अभाव में अनेक एक से हुए,
प्रहार उग्र धार में, प्रमाद कर्णधार के।

भविष्य धर सके चरण सुवर्तमान चाहिये,
हमें प्रकाश से भरा नया विहान चाहिये।

(३१)

कवि का साधक जीवन

फिर क्यों व्याकुल होता रे मन !

ऐसे जीवन संगी पाये, क्यों तुझ दुखाता सूनापन ।
फिर क्यों व्याकुल होता रे मन ।

घेरे रहते अगणित अभाव, गीतों का राग भरा क्रन्दन,
चिन्ता-विषाद के बाहुपाश, करते प्राणों का आलिंगन,
कितने दुलार से अपनाते भूलें, असफलता, क्षोभ, ह्रास,
प्यासी निराशा के दृग् में ममता अपनत्व भरी चितवन ।
फिर क्यों व्याकुल होता रे मन !

प्रति धड़कन की सहगामिनि हो उठती चुभती पीड़ा बाला,
आंखों में तरल उदासी की खुल गयी चिरन्तन मधुशाला,
ओठों पर हँसने का अभिनय, कुंठा-कटुता का गरलपान,
श्वासों में ज्वाला, मायामय, कण-कण पर मृदु कोमल बंधन ।
फिर क्यों व्याकुल होता रे मन !

सुधि नक्षत्रों से सदा घिरा, इस परम शून्य में शशि बन कर,
जगजीवन की लघु एक निशा, क्यों बीत न पाती मुसका कर,
जो अद्वितीय हों क्या उनको संगी ! विह्वल होना शोभन,
युग या कल्पों की बात नहीं, दो सांसों में बंधन जीवन ।
फिर क्यों व्याकुल होता रे मन !

अरुणाभ कपोलों से सुन्दर क्या नहीं पाण्डु सा पीलापन,
मादकता से भी मादक रे, धूमिल उदास जल-मग्न नयन,
निर्बलता में कितना बल है प्रेरक भूलों का पागलपन,
पार्थिवता के कुछ माप और यह तो कवि का साधक जीवन।

फिर क्यों व्याकुल होता रे मन !

सूखा पत्ता

ओ अतिथि, ओ विरस पल्लव, आ रहे हो किस विपिन से !
विभव के खँडहर कहो क्यों आज उन्मन से, अजन से।

संग ले सुधि घूमते किन सुख-सने बीते दिनों की,
पाश मे वदिनि कली की, मृदु सुरभि, मधु गुंजनो की।
एक दिन माधव करों से था हुआ शृंगार कितना,
झूलते हिंडोल पर, उन स्वर्ग के बीते क्षणों की।

चूमती पग पवन प्रतिपल, थे सुतरु के प्राण-धन से !

विकस मुरझाई कली, भू-शायिनी, फिर बात कर में,
ले विरह दारुण व्यथा तुम थे अकेले भुवन भर में,
वह हरा यौवन अचानक बीत वृद्धापन गया बन,
वृक्ष ने त्यागा, थपेड़े खा उठे भ्रम के भँवर में।

खोजते स्वर्गीय सुषमा, वेदनाकुल कवि नयन से !

ऊर्ध्व स्थित नीचता ने व्यंग्य की वर्षा मचाई,
अदय आतप ने शिराओं की सरस मृदुता सुखाई,
वायु ने दुर्भाग्य बन कर शैल-तरु ऊँचे कठिन से,
दुर्ग-प्राचीरों-गृहों से नित नयी ठोकर दिलाई,
किन्तु फिर भी मिल न पाये, छूट कोई प्राण तन से।

यह अकिंचन की कुटी है, पर, सदा स्वागत प्रवासी,
दो हृदय हों एक से तो बाँट लेते हैं उदासी,

पढ़ रहा हूँ मैं तुम्हारे मौन में अभिव्यक्त गाथा,
पारदर्शी पिंजरी काया तपों की सम्पदा सी,

तिमिर देता शान्ति, जिनको भ्रान्ति मिलती है किरण से।

खाद पा कर भूत की नव अंकुरों को बल मिलेंगे,
धन्य वे पतझर कि जिनसे कलि कुसुम नव-दल मिलेंगे,
पीर दुख कैसा सखे, यह तो नियति की नित्य लीला,
पंक वह गरिमामयी जिससे नये शतदल खिलेंगे,

यामिनी के बाद परिचय नयन करते स्वर्ण-दिन से।

———

(३३)

कवि-सम्मेलन

वे बहुत दिनों से सुनते थे,
कवि सम्मेलन की धूमधाम !

वे फूल उठे पद-कंदुक से, सौभाग्य चरम माना अपना,
प्रेयसि के आत्म-समर्पण सा, साकार हुआ सा मधु सपना,
जब नग्न निवेदन पत्र रूप, उनके करकमलों में आया,
"श्रीमान पधारे ही अवश्य, दो चार मधुर दे गीत सुना।

पीड़ित मरु-श्लथ श्रवणों का तप,
रस धारा से हो पूर्ण काम।"

वे अपने मन मे समझ उठे, 'हम भी वरदानी देव एक'
उस मृषा अहम् से मत्त हुआ, मधुतृप्त भ्रमर सा लघु विवेक,
नस-नस मे दौड़ा नया रक्त, गुरुता भावों का हुआ उदय,
वे देख चुके थे हाव-भाव, कवियों के आडम्बर अनक।

कविता पढ़ने के समय कृत्रिम,
होते देख खांसी-जुकाम !

अपने कवित्व की शक्ति वही, थे केवल अब तक सके जान,
दो एक भले प्रतिवासीगण, थे विवश, हुए बहरे न कान,
जब तुकें मिलान वे जुटते, तब आतंकित सी हो ग्रहिणी,
विस्मय विमुग्ध ताका करती, कवि मुख का व्यापक खींचतान।

इस नयी व्याधि की बहुत बार,
चाही थी उसने रोक थाम।

किस भांति मंच तक वे पहुंचे उड़ कर या पांवों से चल कर,
इसके प्रमाण मे तीन चार, अगों पर हैं छवि चिन्ह अमर,
उत्सुक कवि चरणा का विरोध कर उठे पथ पाषाण दुष्ट,
जिनका पुनीत सहयोगी बन, धरती का चुम्बक हुआ प्रखर।

न्यूटन के कुछ सिद्धान्तो को,
पा गये सहज ही बिना दाम।

उस दिन वह विद्या मंदिर था, मंडप विवाह-सा सजा घना,
कवि सम्मेलन का भव्य मंच, हंसों की क्रीडा-भूमि बना,
दो चार हंसिनी भी आयीं, मानों हों कविताएं सप्राण,
वे कवियों की प्रेरणा स्वयं, थी नवरस सागर में निमग्न।

उनकी स्वर्गीय उपस्थिति ही,
उस वैभव को करती ललाम।

'कवि' सम्बोधन के अधिकारी, थे भांति-भांति के जन्तु-जीव,
कुछ चक्षु क्षीण, कुछ मुच्छहीन, कुछ महाकेश, कुछ लम्बग्रीव,
कुछ थ केवल ककाल मात्र, कुछ श्वेत केशधर तरुण कृत्रिम,
कुछ को भूषा-सज्जा विचित्र, मानों सुख्यात भोपाल क्लीव,

कुछ उजड़े मठ से वयोवृद्ध,
आये कर झूठी टीमटाम।

वाणी के वरद सपूतों में, वे ही लगते थे एक काग,
उस प्रदर्शिनी की शोभा में, कुछ भिनक रहे से एक भाग,

गन्धर्वों मे गर्दभ समान, अथवा प्रेतों में जीवित से,
उस खंडहरी व्यापकता में, अनगिरा अछूता पुष्ट भाग।

कुटियों में जैसे पाप पीन,
पूंजीपति का दर्पित सुधाम।

उस सभ्य सभा ने चुना एक अपना पति भी फिर निर्विरोध,
वे थे कोई मानव महान, विद्या-वारिधि, प्रतिभा पयोधि,
ह्यूगो के 'कार्स.मोडो' सा, उग चुका पीठ पर माँस-मेरु,
माथे पर लगी चवन्नी सी, कजरा नयनों को रहा शोध।

मुख की सुरती रद-पट फलाँग,
ठोढ़ी पर करती सी विराम।

फिर उस बिजली की जगमग में, प्रेरणामयी आ गयी चाय,
मधु-पायी मधुशाला भूले, क्षयग्रस्त हो उठ मुक्तकाय,
महिलाएँ भी कुछ व्यग्र हुई, कर उठीं सुरीली सी मिन-मिन,
उस परम पेय का पुष्टि लाभ, था नहीं एक को भी अग्राह्य।

अब सम्मेलन प्रारम्भ हुआ,
आये 'वसन्त' जी झूम झाम।

फिर 'मधुप', 'प्रबाल' 'तमाल' शंख' 'पर्यंक', 'रंक' बारी-बारी
स्वर के निर्झर से रसप्लावित, कर उठे भारती फुलवारी,
फिर मृदुल 'चातकी' 'बुलबुल' भी, 'तरुणी' 'तन्वंगी' उठीं कूक,
अब 'मोर', 'श्येन' 'झींगुर' दादुर' 'कलकठ, दे उठ किलकारी।

'नीरद' जी रिमझिम बरस उठे,
चमकीं 'चपला' नयनाभिराम।

बुझते से 'दीपक' चेत उठे, लहराये श्री 'नीरेश' वहाँ,
थे बिना जले 'परवाने' जी, या गलाकार 'शब्देश' जहाँ
हाँ, सुरभिहीन मुरझ प्रसून, कुछ दुर्गन्धित से 'पुण्डरीक'
निष्पक्ष 'भ्रमर', लँगड़े 'समीर', सब भूल गये हैं कौन कहाँ।

सब को बस इतनी चिन्ता थी,
'हम खूब जमें, ले अधिक दाम'।

छायावादी, मायावादी, कवि प्रगतिशील, कवि प्रगतिहीन,
आये महलों के चित्रकार, कुछ कुटियों के स्वरकार दीन,
कुछ केवल भोजन-भट्ट पीन, कुछ क्षय में लय डालडा छाप,
आये वे वाणी के सपूत, जो साहित्यिक तस्कर प्रवीण।

औरों की रचना अपना कर,
झट देते अपना रूप नाम।

कुछ श्रोतागण हो गये मुग्ध, कुछ ने खोले मुख के किवार,
कुछ रस में ऐसे लीन हुए, सो गये वहीं पर पग पसार,
कुछ गीतों पर ऐसे रीझे, दे उठे करों से तीव्र ताल,
कुछ के आनन्द हुए मुखरित, मानस मे जागे नये ज्वार।

उनके कोलाहल से सचेत,
हो गये सो चुके नगर ग्राम।

वे थे विमूढ़ से सोच रहे, ये विकट भाव या मृदुगायन,
ये भाँति भाँति के अंग नृत्य, ये उछल कूद, गर्जन-तर्जन,

ये झूठी सच्ची 'आह वाह' कवियो के आडम्बर प्रणाम,
क्या यही सुजन रजन करने होते आये कवि सम्मेलन ?

उस भव्य भड़ौती से उदास,
वे बैठे अपना शीश थाम।

उन बेचारों को ज्ञात न था, संघर्ष बन गयी है हिन्दी,
इसके पुजारियों के मठ हैं, फली हैं विषमय दल-बन्दी,
कविता के व्याज सुना सकते, कवि जलीकटी प्रतिपक्षी को,
कीचड़ उछाल ये महाप्राण, उजली प्रतिमा करते गंदी।

जिसके प्रभाव से व्यथित दुखी,
साहित्य कर रहा 'त्राहिमाम'।

कोई बचारे कवि आये, जिनकी वाणी में था दुलार,
कुछ नर-नारो की चर्चा थी, कुछ रस था, कुछ मधु की फुहार,
अपनी मस्ती मे वहक गये, कुछ अनकहनी भी कह डाली,
मर्यादा के पाहरू सजग, सह सके न कविवर 'अहंकार'।

कविता के कोमल सूत्र भूल,
वे खींच उठे कवि-कच ललाम,

फिर कुछ ऐसा तूफ़ान उठा वह मंच बन गया मल्ल-क्षेत्र,
कवियों के वे अनुरागी उर, वे ललित कंठ, प्रेमिल सुनेत्र,
क्षण भर में पशुता पूर्ण हुए, हो गया प्रकट आदिम मानव,
फिर एक पक्ष ने जीत लिया, दूसरे पक्ष से समर क्षेत्र,

वे सरक मिल गये जनता में,
कर कवि-सम्मेलन को प्रणाम।

अब जनता का उत्साह जगा यों देख सुकौतुक बिना दाम,
मानो बन्दी आँधियाँ खुलीं, या हुए उपद्रव वे-लगाम,
वह दक्ष यज्ञ-विध्वंस क्षम्य, अधकचरे तरुण-किशोरों का,
सब आयोजन था छिन्न-भिन्न जसे आंधीं में झड़ें आम।

सं ोजक जी भूमिस्थ हुए,
कवि चले दुखी मन बे-इनाम।

——

(३४)

एक सपना

वे थे उस दिन कुछ अधिक व्यग्र, उद्भ्रांत, व्यथित, चिन्तित, उदास,
थी ममोदशाएँ छिन्न भिन्न, दिन भर कर शत निष्फल प्रयास,
वे पकड़ न पाये एक चोर, जिसने साहब को लिया मूस,
ले गया सभी वह माल-टाल जो छल, कौशल, बल भेंट घूस,

चोरी से साहब सके जोड़।
वह था ऐसा दुर्दान्त चोर।

बंगले के चौकीदार मगन, थे शान्ति स्वप्नदा निंदिया में,
दो अंग कहीं गरमाते थे, सिमटे पबन्दी चिंदिया मे,

पा पेट भरा पय-टोस्ट-मीट, सो गये श्वान चिर स्वामि-भक्त,
फिर वह निशि का व्यवसायी भी, था भाग्यवान, निर्भय सशक्त।

लोहे के वातायन-पिंजर, उसने कौशल से किये भंग,
अंतः प्रवेश का नादहीन, उसका था मौलिक सफल ढग।

साहब समेम रम-रस विभोर, उस व्रहत् पलंग पर पाश बद्ध,
वाणी-शरीर के आगामी प्रतिरोध चोर ने किये रुद्ध,

फिर उठा एक आलोक यन्त्र, गुटका बंदुकिया को सम्हाल,
साहब के उपाधान-तल से चाबी के गुच्छे को निकाल,
हो गया कर्मरत निशावीर! उस लौह-तिजोरी के अमोल,
रत्नाभूषण, चाँदी सुवर्ण, कर उठे मुक्त हो कल कलोल।

उस लोह जेल में वर्षों तक बंदी रह वे भी ऊबे थे,
चंचला रमा के वे प्रतीक, कब से दुख-तम में डूबे थे।
साश्वासन कर उनको स्वतंत्र, उत्सुक मंजूषा में भर कर,
साहब की आँखों के समक्ष, सब कुछ ले भाग गया तस्कर।

* * *

वे बहुत बड़े अधिकारी थे, इसलिए अधीक्षक थे अधीर,
ले आये पकड़ दरोगा जी, दो चार दीन दुर्बल फ़कीर।
पर साहब ने पहचाना था वह अनादृत महमान खूब,
अतएव दरोगा मूर्ख बने ! चिन्तावारिधि में रहे डूब।

मानो विपत्ति यह थोड़ी थी, जो हुई क्षेत्र में लूट अन्य,
उनका भी उत्तर देना था, अपराध नहीं था वह नगण्य।
कुछ एक सिरफिरों ने मिल कर, बिछवाया ऐसा दुष्ट-जाल,
मदिरा पीना भी था निषिद्ध, इसलिए और भी थ निढाल।
सूनापन, जमुहाई, तंद्रा, नस-नस में होती खींचतान,
प्रति स्नायु बन गया व्यथा-पुंज, आँखों से बहते तरल प्राण।
ऐसी दारुण दुर्दशाग्रस्त, थे वे थाना-अधिपति उदास,
पर महा-कठिन पथ सेवा का, फिर राजकीय तो नागपाश।
यों बड़े रसिक थे, पर उस दिन रमणी-रत्नों के घर न गये,
ग्रहिणी से यों भी थे विरक्त, द्यूतादिक भी सुख कर न हुए,

"यदि पकड़ न पाया वह तस्कर, तो समझूँगा तेरा कुचक्र,
तू ही गुंडों से मिला हुआ, सीधा कर दूँगा तुझे वक्र।"

ऐसी थी साहब की लताड़, तो क्या अब सर्विस छूटेगी ?
मधु-पय-रस-यौवन की रिमझिम, कंचन की चमचम रूठेगी ?

यह कितनी ऊँची कुरसी है, करते लाला धनपति सलाम,
वे बड़ी जमींदारी वाले, झुकझुक करते हैं राम-राम,

जयहिन्द झुकाते नेताजी, कोर्निश करते तांगे-वाले,
मुजरा करती हैं वार-वधू, जेबें भरते ऊँचे खाले।

नित बरसा करता रंगरूप, आशीश क्षेम सा रजत-हेम,
इसके ही बल तो पिता, पुत्र, पत्नी मित्रों का प्राप्त प्रेम।

साहब कहते "आई रिपोर्ट, फिर तेरे दुष्टाचारों की,
उत्कोच-ग्रहण की, पशुता की, गुंडापन मिथ्याचारों की।"

तब क्या वह कारा बुला रही, जिसमें मैंने भेजे अनेक,
जिसके अधिकारी प्रसन्न, विधि-नीति-नियम सब दूर फेंक।

मैंने मनचाहे फल पाये ! क्या सारहीन वे हथकंडे,
जिनके बल फाँसे निरपराध उन्मुक्त विचरते हैं गुंडे।

मुझ में ऐसे कौशल अनेक जो, मृषा सत्य में सकें बदल,
हत्यारे, डाकू घोर चोर जिनके बल करते चहल-पहल।

उन सफल प्रयासों से कितने कर चुका भलों को मूर्त पाप,
कर दिये हठीले दर्प चूर्ण, हिमकेश अनेकों तरुण ताप।

कितने अनाथ कर दिये बाल, कितने सतीत्व के दंभ भंग,
साहब मेरा कर सकते क्या, मुझ पर कितने हैं मँजे ढंग।

फिर उन पर हैं ही क्या प्रमाण, साक्षी मेरे दुष्कर्मों के,
मैं कर सकता ऐसे उपाय, झट दंगे हों दो धर्मों के।

साहब की हो चेतना लुप्त, भूलें सब अपनी मृषा ऐंठ,
यदि अभी शान्ति की कुंजी मैं विपरीत दिशा में दूं उमेठ।

मैं तो वैसे ही चिन्तित हूँ, पंचायत के अभिनव युग से,
खाने-पीने के दिन बीते, हिन्दी बढ़ती है दृढ़ पग से...

हिन्दी का ज्यों आया विचार, निकली उर से दारुण कराह,
उल्टी लिपि से थी परम-प्रीति, पर बदल गया युग का प्रवाह।

अब भी सपनों में आती थी, जब पूर्व वेष में वह भाषा,
जो सदा वामगति मे प्रसन्न, संकरता जिसकी परिभाषा।

तो छलक-छलक उठतीं आँखें, उमड़ा करता था प्यार ज्वार,
पर परवशता से बहुतेरे इतिहास पुरुष भी गये हार।

तो सीख नागरी वर्णमाल, कुछ लिखते उल्टा-सीधा थे,
जैसे कि "गुज़ारिश है हुज़ूर, ये मुलज़िमान पोशीदा थे।

इस खादिम ने पा कर सुराग़ पूरा गरोह ही पकड़ लिया,
मर्तबा महकमे का बुलंद, चट हथकड़ियों से जकड़ दिया।"

इन चिन्ताओं में लुप्त-लीन, हो गये दरोगा जी उतान,
निद्रा देवी की गोद पड़े, कर उठे मधुर पय-स्वप्न-पान।

पर दुष्ट पूतना सी निद्रा क्या लायी कुच पर गरल लेप,
हो गयी प्रेत [illegible] के [illegible] पर [illegible] ।
क्या शान्ति विरा[illegible] नहीं [illegible] पार,
ये कौन भयंकर काल मूर्ति, [illegible] पास [illegible] पार ।

नन्हीं नमचिया व्यर्थ हुई, वे थे कोई दो भीम रूप,
जलयानों से थे हाथ-पाँव, नासा मानो दो जुड़े कूप ।
मूँछे-दाढ़ी थी बीहड़-सी, दृग् दो ज्वलंत पहिये विशाल,
साक्षात मृत्यु के क्रुद्ध दूत, जिनके कर में पाशा कराल ।

उल्टी मीनारों से विराट तोमर कर में थे तिनके से,
पुल के खंभों सी दंत-पंक्ति, पाषाण मेघ हँसने लगे ।
कैसा था उनका अट्टहास, कम्पायमान [illegible] तीन,
उनके बंधन में चूहे से, लटके थे अब अफसर प्रवीन ।

*   *   *

"मन की मन में रह गयी, हाय, किस तरफ़ करूँ राहत तलाश,
सुनते मेरी आवाज़ नहीं हामिद, हनीफ़, बाँके विलास ।

उल्लू के पट्ठों को न होश, पहरेवाले हैं दग़ाबाज़,
इन बदमाशो से छूटा तो, कर लूँगा मैं सबका इलाज़ ।"
ले चले मृत्यु के दूत खींच, उस पथ पर था बस अंधकार,
अनुभव होता था बंदी को दुर्गन्ध-शूल भय बार-बार ।

छिल गयी कलित बहु पली देह, वर्दी के लत्ते शीर्ण हुए,
कुछ पथ, कुछ अत्याचारों से जीने के अवसर जीर्ण हुए ।

फिर बन्द किये जिस पिंजरे में वह एक भयकर 'हवालात',
जिनमें विषधर फुफकार रहे, वृश्चिक करते थे कठिन घात।

भरती आँखो मे मिर्च धूल, मुख नासा मे सड़ता पुरीष,
कृमि-कीट चूसते रक्त और, अवयव-अगो म नयी टीस।

यातना-दुखों का पार न था, पर हो न सके-सज्ञा विहीन,
जो उनके नियमित धधे थे, इन कष्टों के सामने दीन।

यो राजबन्दियो को बहुधा-तोबड़े मिर्च के पहनाये,
सन व्यालिप मे नर-रत्नो के वर मुख विष्ठा से भरवाये।

नख में फांसे ठुकवाने मे, थाना-अधिपति थे विशेषज्ञ,
उनके हाथो सम्पन्न हुए जाने कितने थे मनुज-यज्ञ।

पर यहाँ प्रणाली थी नवीन, जिसकी भीषणता अतुलनीय,
साक्षात नरक का वह निवास, ज्वाला-जालो म असहनीय।

वह धीमी सी ज्वाला अदेख, जो कोमल गात झुलसती थी,
अपनी ही महाचिरायध से, बन्दो की श्वास उलझती थी।

थे फूल उधड़ते अग-अग, होता था वासा का प्रवाह,
ऊपर से अविरल बरस रहा दुर्गन्धित पीब, पुरीष दाह।

फिर विभीषिकाएँ भी आयी, भय और बढाने को कुरूप,
कोई उखाड़ती नाक कान, आँख कर देती अंधकूप।

पर कैसी थी वह विडम्बना भरपूर चाह कर मर न सके,
व्यापक प्रभाव धन ज्ञान शक्ति, इन सबका कुछ भी कर न सके।

भारती दंड विधि संग्रह की धाराएँ भी निस्सार हुईं,
वे प्रबल परिस्थितियाँ जिनमें भारी खलता थी भरी हुई।

बीती वह घोर निशा कैसे, पर धीरे-धीरे बीत गयी,
दूसरी ओर न्यायालय मे जाते ही शठता रीत गयी।

कल के ही दोनों भीम रूप, लटका के फिर ले गये वहाँ,
मरने के बाद हुआ करता, कहते हैं सब का न्याय जहाँ।

थे ऐनक-धारी चित्रगुप्त, कागद-पत्रों को रहे पलट,
सायुध सज्जित रक्षक अनेक, करते थे 'बूटों' की खटपट।

ऊँचा सुवर्ण सिंहासन था, जिस पर विराजते धर्मराज,
थे नही 'असेसर' या 'जूरी' या धूर्त वकीलों का समाज।

दे पेशकार को दो रुपये, तारीख न वे बढ़वा पाये,
उस 'जज' का था ऐसा प्रभाव, उत्कोच न अर्पित कर पाये।

झूठे गवाह भी मिल न सके, पैरवी न कर पाये वकील,
उस धर्म दंड शोभित नर के, उठ गये इधर फिर नयन नील।

"प्रभु! यह अपराधी अति जघन्य, कल धरती से ऊपर आया,
दो सौ शिशु कर आया अनाथ, विधवा सौ तरुणीं कर आया।

चालीस वर्ष जीवन में ही अगणित सतीत्वकर चुका भंग,
अनगिनत निरपराधी फांसे, बहुतों के भंजित किये अंग।

लाखों जीवों का हत्यारा, लाखों का ही आतंक बना,
बहुतों की धन-सम्पति लूटी, उनको दर-दर का रंक बना।

इसके अघ तो लाखों मन हैं, सत्कर्म नहीं रजकण समान,"
यह प्रथम पंक्ति का नीच धूर्त, मिथ्यासेवी, पापी महान।

यों कहते जाते चित्रगुप्त, सुन रहे ध्यान से धर्मराज,
उनके चिर सौम्यानन पर था, कुछ नया रोष आक्रोश आज।

पर चौंक अचानक चित्रगुप्त, बोले "श्रीमान क्षमा कर दें,
दूतों से कोई भूल हुई, इस पापी को फिर अवसर दें।

अवशिष्ट अभी तो बहुत वर्ष, इसको अघ नूतन करने को,
दूतो ! इसको अब ले जाओ, फिर मृत्युलोक में धर फेंको।

*　　　　*　　　　*

दूतों ने फेंका या कि नहीं, पर जगे दरोगा जी कराह,
वे पड़े पलग के नीचे थे, चल रहा स्वेद का द्रुत प्रवाह।

थी भय से घिघ्घी बँधी हुई, आँखों से झरता व्यथा-नीर,
मुख फूल फल हो गया विकृत, प्राणों में मचली नयी पीर।

ले नाम राम का उठे और, पकड़ तुरन्त ही उभय कान,
बोले "प्रभु ! मुझे क्षमा करना, शरणागत ये पापी महान ! !"

सोया ही छोड़ा सब कुटुम्ब, लिख धरा खाट पर त्याग-पत्र,
वैराग्य जगा ऐसा सशक्त, सब त्याग दिये पत्नी-कलत्र
सुनते हैं उनके जीवन में फिर हुए बड़े भारी सुधार,
उस एक स्वप्न ने खोल दिये, कितने अवरोधित ज्ञान-द्वार।

———

(३४)

वृक्ष की बात

ओ पथिक ! वे भी मनुज के हाथ थे,
रोप कर मुझ को सतत् पोषित किया।

सींच नन्हा एक अंकुर प्यार से:
प्रबल अभ्युत्थान उद्घोषित किया।

कर क्षणिक विश्राम शीतल छांह में,
भर निरादर नयन मे, मुख मोड़ के।

तू छलेगा आश को, विश्वास को।
फूल फल सुकुमार शाखा तोड़ के।

श्रेष्ठ होने का तुझे अभिमान पर,
प्राणियों में कौन इतना नीच है।

सांप भी इतना कृतघ्नी तो नही,
तू तुझी सा व्योम-भू के बीच है।

कोटरों में, भग्न उर में नीड़ धर,
विहग करते प्राण का संचार भी।

मधुर कलरव से, मुखर आनन्द से,
रम्य करते है असह्य संसार भी।

गीत में संदेश देते राग का,
वे न हों तो किस तरह जीवित रहूँ

छोड़ते कब संग पतझर ग्रीष्म में,
श्रेष्ठ मानव से न क्यों उनको कहूँ।
पशु गिरे जो मानवों के [illegible] में
देखता [illegible] [illegible] [illegible] जता,
मधुर छाया मे विरम रोमन्थरत्,
नित्य हरते दोपहर की रिक्तता।
नेह से गद्गद् रगड़ते गात जब,
पुलकमय मै झूमता मधु-भार से,
धमनियो म दिव्य रस सचार सा,
सिहरता अस्तित्व सारा प्यार से,
किन्तु मानव, तू लुटेरा फूल का !
आँधियों का पुत्र, वज्र-निपात सा,
काट कर मझ को जलाना जानता,
शाप ! सुन्दर गात मे उत्पात सा।

०:—:०

(३६)

प्रलोभन

छांह सुन्दर, चाह मुख कर, पथिक, तुझ को राह का डर ! !
प्राण मे हलचल जगाते कान में पड़ते मधुर स्वर !
किस सुरभि से अंग पुलकित, किस दशा से भर रहा मन,
मग कही तो पग कही है, हो रहा क्यो रोम-हषण ।
कौन आकर्षण-निमंत्रण हर नियंत्रण को रहा हर ।
राख से बाहर अँगारे की दहक उठती पिपासा,
आँधियाँ-तूफ़ान जिनको एक गंगा कर्मनाशा,
ज्योति अनुरागी शलभ सी साधना में भ्रमर के स्वर ! !
साधना कहती कि पी ले मुस्कुरा अपनी कसक को,
वासना कहती कि चख के देख तो मधुमय चषक को ।
याचना करता सुधा की इस अधर से ही सुधाकर ।
जम गया हिमपिड सा जो आग थोड़ी माँगता है,
तू गरल-पायी नही यदि दृग्-सुरा से भागता है ।
वह सुरा, जिसके लिए आते अमर धर देह नश्वर ।
ओ दुखी, अभिशप्त मानव देख तो जग मुस्कुराता,
प्यार करना सीख जो इस नरक को सुन्दर बनाता ।
ज्योति जीवनदान करती वह सुनहली रश्मि तमहर ।

भाग्य का तू ही विधाता, प्यार ले ले, पीर ले ले
कौन कल किस ओर जाये, घुटन त्याग समीर ले ले।

प्यार से लहरा रहा यह पुण्यमय विस्तीर्ण पुष्कर।

डर लहर से, भागता तट ओर, वह जलयान कैसा ?
गर्त-शिखरों से झिझकता शक्ति का अभियान कैसा।

प्रेरणा, विश्वास वंचित पाँव दुर्बल, पथ न सुखकर।

दीप सार्थक तो तभी जब नेह पाये, आग पाये,
अग्नि की लपटों बिना क्या नीर बादल राग गाये।

जो न नारी ने गढ़ा वह और कुछ हो, पर नहीं नर।

दंभ से लिपटे हुए शव, आ निकट तो प्राण भर दूँ,
तज पलायन की दिशा, निर्माण-अभ्युत्थान भर दूँ।

प्रश्न सपनीले गगन के, खोज घर, उत्तर अवनि पर।

(३७)

मंझधार

उस पार तुम इस पार मैं, आओ मिलें मंझधार में।

इस ओर दुख अन्याय है, उस ओर अत्याचार है।
इस पार कोलाहल व्यथा, उस पार भय चीत्कार है।

आगे बढ़ो हम-मूंद दृग् डूबें इसी रस-धार में।

माना सखे, तट पर चरण पाते सुदृढ़ आधार को,
लहरें भँवर ले जायँ जाने किस नये संसार को,

पथ हो अनिश्चित, किन्तु निश्चित अंत पारावार में।

भय मत करो ओ भीरु, यह तट के निकट गंभीर है,
दो चार पग पश्चात् फिर आनन्द जनती पीर है।

हो बालुका तट की तृषा, परितृप्त मधु-आगार में।

संकोच संशय छोड़ दो, कूदो अनन्त अथाह में,
हम मिल कहीं तो जाएँगे, गति ऊर्म्मि पूर्ण प्रवाह मे।

आगम अनिश्चित ही सदा, बस 'आज' ही अधिकार में।

पागल कुतर्कों में वृथा क्यों खो रहे बहुमूल्य क्षण,
अब कठिन आतप सोख लेगा धार के अवशिष्ट कण।

फिर व्यर्थ हम दोनों मिलेंगे धूल ले क्या प्यार में ?

हम डूब जाएं, किन्तु बुझ तो जाएगी भीषण तृषा,
हम एक हो कर बढ़ चलें, मिल जाय कोई भी दिशा।

निस्पंद होंगे, या चलेंगे सिर उठा संसार में।

रज या रजतकण की चमक, से फेर मुख मूंदो नयन,
जीवन-मरण पथ के पथिक, हम को सुलभ आवागमन।

क्या खोजते निर्वाक् तुम, इस करुण हाहाकार में।

मंझधार में ही पा सकेंगे उस मधुर निर्माण को,
जिसको न पा कर जीव जग के खोजते निर्वाण को।

आओ करें हंस कर विसर्जित लोक दोनों प्यार में।

कब कब सके यों चाहते मन मिल सतत संसार में,
आनन्द की संभावना रहती सदा उस पार में।

कर दें प्रमाणित किरण-शर, चुभते तिमिर-नीहार में,

उस पार तुम, इस पार मैं, आओ मिलें मंझधार में,

विलोम गति

चिर मधुर, मुख म्लान कैसा ।

मुक्ति बंधन माँगती सी, मोह दूषित ज्ञान कैसा ?
चिर मधुर मुख म्लान कैसा ।

मुदित उपवन छोड़ वन का आ गया क्यों ध्यान कोकिल,
निम्नता की ओर अभिमुख क्यों प्रगति उत्थान के पल ।
अमिय स्वर ! शव-वृक्ष का,
गुणगान, यह सम्मान कैसा ।

धूक के अवशेष पर मत मोद जीवन के लुटाओ,
मर चुके पर व्यर्थ ममता की न दृग्-धारा बहाओ ।
क्रूरता विख्यात थी, पर,
टूटता अभिमान कैसा ?

सूखने का भाग्य ले कर ही जनम पाया अवनि पर,
थी अवलता, जो विकलता में जला यों विरह कातर ।
अश्रु विगलित, श्वास कम्पित,
चिर हठी पाषाण कैसा ?

हो चुका आघात घातक, भूल तब पहचानना क्यों,
राख जब उड़ती पवन में, प्राणदान प्रतारणा क्यों ।

अब भिखारी ही नहीं,
यह नेह-मधुरस दान कैसा।

ठूंठ को सम मेघ की करुणा, प्रभंजन के झकोरे,
चित्र की रंगीनियों को, हैं अपेक्षित पृष्ठ कोरे।

छीन कर आँखें, किसी को,
व्यंग्य किरण-विहान कैसा!

झूमते जो गीत सुन सुन आज क्या मधुवन न मधुरे?
सुरभि पुलकित, गंध पायी वह मधुप सा मन न मधुरे?
अवनि जिससे त्रस्त विस्मित क्या मिटा वन तन सुयौवन?
ख्याति नामी, लोक वश कर, शेष क्या चितवन न मधुरे?

अग्नि, आँधी, बिजलियों से,
नीड़, नव निर्माण कैसा।

अमूल्य निधि

यह भेंट बड़ी पावन अमोल,
क्या संभव इसका अपसर्जन।

माना, भ्रम बनती कहीं कहीं नयनों की सकरुण गहराई,
कोई कुछ और समझ लेते, विस्मृति मादकता बन छाई।
हो उठता है रोमाञ्च, कभी स्वर में बढ़ जाता है कम्पन,
तुम से उपहार मिलीं निधियाँ, कोई कर सकता मूल्यांकन।

क्या उर से दूर करूँ धड़कन,
नयनों से त्याग चलूं चितवन ?

क्या आवश्यक कोई जाने, यह करुणा तो मेरा स्वभाव,
मेरे स्वर की कोमलता में, कोई प्रभाव, कोई अभाव,
अस्थिर पग गति की जननी तो मेरे ही अंतर की उलझन,
मेरे प्राणों का संचालन करती कोई कोमल धड़कन,

पर अर्थ लगाते मनमाने,
दुनिया में कुछ उजले रजकण।

प्रियतम न सही, प्रिय तम पाया, संगम न सही विभ्रम पाया,
नयनों में अंकित हो न सका, अविरत अंकन का क्रम पाया,
अनुराग राग की लहरों में डूबा डूबा मन पा न सका,
आनत नयनों से क्षत विहंग, यदि फिर उड़ नभ तक जा न सका,

दीपक पर कैसे बिसराये,
तुम से ही पायी एक किरण।

तुम से ही पाया रंगमहल, तुम से ही पाया सूनापन,
तुम ही मीवरता के दाता, तुमने ही स्वरित किया गुंजन,
जीवन के वर कण, मधु प्रकरण, धीमा-धीमा प्रिय एक मरण,
आगमन भरा मुसकानों से, जलकण से भीगा एक गमन,

इन सब से ही तो मेरापन,
फिर क्या रह जायेगा जीवन।

मुझ से कहा संसार ने

मुझ से कहा संसार ने
श्री-हत निषेधों से न हो, मेरा वही श्रृंगार है,
अनुराग-आग समान हों तो जय भरी प्रतिहार है।
मुझ से कहा संसार ने।
जो फूल सा खिलता नहीं,
जो दीप सा जलता नहीं।
वह प्यारमय अंतर नहीं, कुछ क्षार है, कुछ भार है,
मुझ से कहा संसार ने।
मधु तृप्त हो गाता नहीं,
कलि-पाश बँध पाता नहीं।
सोता न सुधि खोता न जो, यौवन नहीं धिक्कार है।
मुझ से कहा संसार ने।
वर-शाप ही न अशक्त हो,
जिसका न कोई भक्त हो।
चढ़ते न श्रद्धा के सुमन, प्रतिमा नहीं, वह भार है।
मुझ से कहा संसार ने।
गति लहर-भँवरों से रहित,
आराधना वंचित जरा,
चिर स्वार्थ सीमित आदमी, इनका मरण उपकार है।
मुझ से कहा संसार ने।

आपत्ति देख मलीन हो,
जो आत्म-गौरव हीन हो।

संघर्ष क्षण, कर जोड़ कर,
नभ देखता जो दीन हो।

कैसे सहूँ उस भीरु को, जो भार, अत्याचार है।

मुझ से कहा संसार ने।

---

(४१)

पागल

डगर-डगर फिरता, पागल तो, अपने ही मन की करता है,
क्यों ऐसे की चिन्ता करता, अथवा जग उससे डरता है।
वस्तु जगत में भी अवस्तु के हैं उसके आदर्श निराले,
नहीं बदल पाते है उसको, क्षण चमकीले या पल काले।

फूल नहीं चुनता उपवन के,
झोली शूलों से भरता है।

पर पीड़ा की वन्हि मोम सा, वह सुकुमार हृदय पिघलाती,
वज्र झलने वाली छाती, गीली दृष्टि नहीं सह पाती,

ममता जहाँ छली जाती है,
वहीं नयन आँसू झरता है।

डरता नही शक्ति-प्रभुता से, यह छोटा अपराध नहीं है,
थोड़ा रोष नही, क्षमता की दया दृष्टि की साध नहीं है।

पाषाणों से भरी तरी ले,
बिन पतवार धार तरता है!!

है जग जड़वादी भौतिक उत्कर्षों का ही मान यहाँ है,
मुरझे गात, फटे वसनों को बहुतेरा अपमान यहाँ है।

पर, मानापमान से बाहर,
उसकी साधन-निर्भरता है।

जिसे आँधियों की चिन्ता हो, अंचल में वह दीप नहीं है,
उसको दूर नहीं है कोई जिसको बहुत समीप नहीं है।

धरती पर घर नहीं बनाया,
जो भूकम्पों में गिरता है।

जहाँ न नर-नारी हों, 'कासानोवा' और लोलिताएँ हों।
तन तक गणनाएँ चुक जायें, मन की नहीं मान्यतायें हों।

वहाँ प्यार की बात जगा कर,
पीड़ा और घृणा वरता है।

आनन केवल एक, न उस पर चढ़े मुखौट नाना-वर्णी,
यहाँ निपुण मय के कर करते जल को थल, मरु को पुष्करिणी,
उसकी क्षीण किरण पर क्रोधित, घन-नीहार व्यर्थ घिरता है।
डगर-डगर फिरता, पागल तो अपने ही मन की करता है।

०:—:०

(४२)

सरोवर

मैंने बहुतेरे रूप भरे, तब आज कहाता नीराशय,
चिर चेतन तरल धवल दर्पण, कर गया एक मायामय।

कल था समीर का वशवर्ती, इच्छानुसार भरमाती थी,
आँसू की बूँद बरसती थी, मुरझी खेती मुसकाती थी,
मेरे विगलित मेरेपन से, होते प्रसन्न सरिता-निर्झर,
उस मिटने में कैसा सुख था, जब मृत्यु प्राण बरसाती थी।

मैं बेघर था, चिर चंचल था, दुख का था केवल यही विषय।

सागर का कोमल तरल हृदय, मर्यादा का उज्ज्वल प्रसार,
जाने कैसे पागल क्षण में, हो गये असह्य, बोझिल, असार,
रवि-किरणों पर आरोही हो, मैं चाँद पकड़ने को अधीर,
मेरी चाहें थीं ज्वाल भरीं, कोई आमंत्रण दुर्निवार।

पर कहीं बीच में चंचल मन, पा गया चंचला का परिचय।

वर्जित दोनों ही लोक हुए, खा उठा ठोकरें बार-बार,
नभ के नक्षत्र सलज्ज हुए, मुँद गये रुपहले स्वप्न-द्वार,
उनके संरक्षण तत्पर झट, हो गये प्रभंजन अकस्मात,
मेरी कराह, गुरु-गर्जन ने पायी न कहीं प्रति-ध्वनि उदार,

उन व्यापक झपट झकोरों में, सब बिखर गये मेरे निश्चय।

तब मुझ मे जीवन था असीम, धरिणी अंचल फैलाती थी,
चातक मयूर की वाणी में मेरे ही तो गुण गाती थी,
अपनी समर्थ छाया देकर, पथिकों के ताप भुलाता था,
कृषकों की कोटि निगाहों को, मेरी करुणा पुलकाती थी।

निज मद-यौवन में था प्रमत्त, मे बदहीन मै थिर निर्भय।

वे दिन अब भी सुधि में सजीव, रवि-वाड़व से प्रेरित हो कर,
अवनी से ऊपर उड़ता था, मेरा अस्तित्व मधुर 'जलधर',
प्रज्वलित रूप की सतत धूम, इन बांहों में लहराती थी,
मेरा दाक्षिण्य उमड़ता था, तन भरता नभ का सूना घर,

पर ज्ञात न था, पट-परिवर्तन करने वाला बलवान समय।

आकाशी सपन खिलौनों से, ऊबी-ऊबी हो गयी किरण,
ढोते-ढोते गुरु भार थके, सहसा हो परम उदार पवन,
मेरा अस्तित्व हुआ कण-कण, मेरी सब पूंजी गयी बिखर,
पार्थिवता से अभिशप्त हुआ, पीड़ा-कातर नभचारी मन।

पर उस तड़पन पर मुसकाया, ऊपर बैठा कोई निर्दय।

वह मद्यप सी गति भूल गयी, भला वह भ्रमरों सा जीवन,
कर्दम उछाल में अपमानित भू : ो ठुकराता था प्रतिक्षण,
उर में दंशन, सब भग्न सपन, गति को कितना व्याकुल था मन,
वर्षा ऋतु सीमाद्रोही थी, बंधन में घुटता था जीवन,

पर वह मौसम भी बीत गया, सीमा ने मुझ पर पायी जय।

प्रति कण प्रतिक्षण विद्रोही था, व्याकुलता करती थी पुकार,
आमंत्रण बन जाता था, प्रति पवन झकोरा साधिकार,
कोकिल भर जाती हूक-कूक, चुभते चातक की व्यथा राग,
टूटा छूटा रूठा जीवन, बह-बह उठता था धार-धार।
निर्मम कूलों पर पटक शीश, लहर हो उठतीं क्रन्दनमय।

फिर खुला नया अध्याय और आया प्रशान्ति ले शरद काल,
क्षीर्णा उर में छिप क्षीण हुए विद्रोह-वेदना के उबाल,
धरिणी के मादक अंचल में, वे हाहाकार लग सोने,
मैं सीखा-सीमा तजते ही हूं खड्ड, पतन, अपमान, जाल।

सपनों की भ्रामकता तज कर, सत्यों से होता है परिचय।

चल नयी दिशा, फिर शैलों से ठोकर खाने की नहीं चाह,
प्रति दिन कुछ औरस मेट रही, कूलों की ममता भरी बाँह,
तट के वट पर बसते नभचर, छाया में पाते पशु विराम,
मेरे उज्जवल शीतल जल से, बुझती है कितनों की कराह।

परितृप्त पंखेरू गा-गा कर, देते हैं आशीष निश्चय।

आते अतीत सुधि से पशु भी जो उकसा जाते दुख कर्दम,
कर जाते मेरा बदन मलिन, भर जाते लहरों मे विभ्रम,
पर परम सहिष्णु धरा करती, कुछ क्षण मे मुझको निर्मल,
वह आत्मदान, मानव सनेह, अब सिखा रहा मुझको सयम।

कुछ नये मधुर अनुभव पाये, अर्पण जय, सुख-अपनत्व विलय।

कर जाती कर्म प्रकाश पूण, रवि किरणें जीवन को प्रतप्त,
हिम-कर के कर जाते हैं, फिर असंतप्त, आनन्द तृप्त,
तब सफल स्वर्ग, सुख-शान्ति-छटा, अंकित होता उर दर्पण पर,
मैं अवनि अंक में लास लीन, हो जाता तन्मय, अनभिशप्त,

मैं पुन किरण-पथ पर चल कर, चिर छवि से कर लूंगा परिणय।

---

(४३)

मुक्त मन

स्वेच्छा से मैं बँधा, विजय-गर्वित रे बंधन,

मुझे कर सके सीमित, ऐसा कौन पाश है ?
नाग-बंध चन्दन-गंधों को रोक न पाये,
यह मन, महा बली है, तनका नहीं दास है।

मैं चाहूँ बस तभी डुबा सकती गहराई,
आँसू में डूबा, सागर से प्यास बुझाई,
कण से आहत हुआ, सहे गिरि-वज्र वक्ष पर।

मैं अति मानव, सुख-दुख तो मेरे विलास हैं।

चले तुम्हीं करने मेरी श्वासों पर शासन,
बुझता नश्वर रूप-दीप ले पंथ-प्रदर्शन,
अरे, स्वयं चलना तो सीखो, दर्प धूल के।

रूप ! जलाना भी तो जलने का विकास है।

सरल, और ही होते भोले या अज्ञानी,
इस पंथी को नये नहीं हिम, मरु, तम, पानी,
हरी भरी यह छटा, मूक पशु का जीवन है।

जिसको चितवन स्वर्ग, निमंत्रण मधुर हास है।

कौतूहल वश वह तेरी गति पर चलता था,
मुसकानों-भ्रू भंगो पर उठता गिरता था,
गर्व हुआ "मुझ से ही सब उत्क्रान्ति ह्रास है।"

"मेरे संकेतों पर ही जीवन-विनाश है।"

इन पंखों को कौन अछूता नभ का कोना,
होना भी सामान्य मुझे जितना अनहोना,
क्षीण सुरभि से आज चले किसको बहलाने,

सर्प ! तुम्हारा दर्प, गरुड़ का एक ग्रास है।

कुशल बने अभ्यास, करो वर्षा वाणों की,
शान्ति-मिटाना मत चाहो प्राञ्जल प्राणों की,
पवन बिद्ध करना, विद्युत की कौंध बाँधना,

कब-कब सम्भव हुआ, अत: निष्फल प्रयास है।

मेरे स्वर हों मौन, कौन तुमको गायेगा ?
बिम्ब रहित प्रतिबिम्ब न क्षण भर जी पायेगा,
नयन व्यर्थ हैं ही, न ज्योति ध्वज-वाही किरणें

अंधे भी अनुभव करते कब तम-प्रकाश है।

परम पुरुष हूँ, माया चिर चरणों की दासी,
नहीं वाह्य निर्भर मेरे उल्लास-उदासी,
विश्व मंच का युग अभिनेता, ओ गर्वित भ्रम !

लास तुम्हारा, रोम रोम के आस-पास है।

मृत्यु से भेंट

एक ज्योत्सनास्नात निशा में, भटक रहा था जब वन-पथ पर,
सुप्त प्रकृति सौन्दर्य पान कर, बैठा थका, छका अलसा कर,
कोई सुरभि दिशा को देता, आया कलरव की लहरों पर,
नयन अचानक चकाचौंध हो, देख उठे वह दीप्ति मनोहर।

हिम उज्ज्वल चीनांशुक मे वह हिम शीतल, अंकुश सी कोमल,
नयनों की मादक गहराई, दृष्टि लहरियाँ चंचल-चंचल,
रक्त-कंचुकी का विद्रोही, कोमल था या पवि कठोर उर ?
खुले-खुले लम्बे कच काले, चितवन में चुम्बक का निर्झर।

यावक से पावक पद जिनमें रक्तिम पद-त्राण शोभित थे,
सीमातीत अलौकिक छवि थी, चाँद सितारे भी लोभित थे,
कर में सुन्दर पाश, जिसे यों ही कौतुक वश धीरे-धीरे,
घुमा रही थी, अपनी धुन में चमकाती दशनों के हीरे।

उसके क्षण छूते ही सब के हर्ष-विषाद कहीं खो जाते,
चरण-रेणु के पड़ जाते ही तेज स्वयं तम में सो जाते,
वह निस्पंद वहीं हो जाता, जिसे देख लेती मुसका कर,
बाँहों की सीमा में आते-आते सब हो जाते नश्वर।

वसन कसी मादक तरुणाई, वे आलिंगन के आमंत्रण,
धड़कन-रक्तचाप बढ़ जाते, चचल हो उठता संयत मन,
सह न सका मैं, हुआ अचानक उस अति शोभा से मतवाला,
बढ़ते ही सहसा पग काँपे, पड़ा चेतना पर पट काला।

मेरी ऐसी दशा देख कर, वह चिर छवि मुड़ कर मुसकाई,
अर्ध चेतना के कानों में कुछ ऐसा भी दिया सुनाई,
"भोले मानव, दूर रहो, मैं अखिल सृष्टि का शाश्वत भ्रम हूँ,
परिवर्तन वाहिनी प्रगति हूँ, कभी न थमने वाला क्रम हूँ।

मेरा नाम मृत्यु है, मेरा काम सभी का जीवन लेना,
मादक परिरंभण मे ले, चुम्बन के संग विलय कर देना,
अभी नहीं तुझ को लख मेरे मानस में मधु-प्यार जागता
कुछ ऐसा भी है, जिससे टकरा कर उगता ज्वार भागता।

परिपक्वित हो नेह, गीत श्वासों का ऋण पूरा हो जाये,
तब अवसर दूँगी जब भू का साधन क्षण पूरा हो जाये,
फिर मेरी बाहों मे आ कर, कर लेना अपनी मनमानी,
अभी नहीं सोने के दिन है, जाग-जाग प्राणी अज्ञानी।

दूर गया वह मादक गुंजन, दूर गयी वह मीठी माया,
क्या सचमुच मुझ मे भी कुछ है जो न मृत्यु के भी मन भाया,
हर्ष-हास आनन्द-प्रणय की कलियाँ तो देखी मुरझाई,
एक कसक ही ऐसी जिसकी, दिन-रजनी बढ़ती तरुणाई।

यही सत्य है, यही नित्य है, मुझ में यही तुम्हारा कण है,
यही रेडियम सी जगमग है, शेष तिमिर, भ्रम, सूनापन है।

(४५)

लहरों से

लहरो, इसी भाँति लहराओ।
इधर-उधर से उठ टकराओ।

फुलझड़ियों में बरसो,
जग को सरसातीं हर्षो।

चाँदी की बूँदों में,
द्रव प्राण बन,
मधु-रस तरंगों,
भरो शेष क्षण।

लो मैं तट ही आज बन गया,
मुझे चूम कर गीत सुनाओ,
लहरो ! मैं सिकता-संचय हूँ,
युग प्यासा, बस प्यास बुझाओ,

लहरो इसी भाँति लहराओ।

कोई प्यार ज्योति गृह बन कर,
जगमग करता, दूर जहाँ पर,
एक शैल जल-मग्न

एक नाश जल-मग्न, कर चुका लय अनेक जलयान,
बिखर अवशेष केश-कंकाल, सुनाते पीड़ा का आख्यान।

लहरो आज उमड़ द्रुत वेगा,
घहर-घहर घन सी गरजो,
शेष पड़े अवशेष बहाओ,
हठधर्मी गिरि को बरजो,

उन कंकालों की समाधि पर, आज 'फ़ातिहा' गाओ।

लहरो, इसी भाँति लहराओ।

पूनम का चाँद,
उठा घूँघट उघार,
चलने लगी,
मंद शीतल बयार।

आज चाँद की छवि शत 'बिम्बित'
सकल व्योम सागर उर चित्रित,

प्रिय लगता संसार !

सुन्दरतर हो उठता जीवन,
जैसे पा कर प्यार।

आज प्यार की रुनझुन मेरी नस-नस में भर जाओ,
मैं गाऊँ, तुम मुझे घेर कर नाचो, रास रचाओ।

लहरो, इसी भाँति लहराओ।

नभ में,
आज विरहिणी कोई,

चली जला आकाश दीप शशि,
"हो निर्विघ्न पथिक प्रिय मेरा,
हरो कलाधर बाधा-कलमषि,
दे प्राण शुल्क जो शलभ बाल,
जगमगे रूप में लीन हुए,

उनकी अमर-द्युति से नभीय,
पुष्पों के वदन मलीन हुए।

मैं उस अर्पण की विभूति हूँ,
तुम तर्पण करने आ जाओ।

गीतों से द्रव करके, सखि, मुझ को भी लहर बनाओ।
लहरो! इसी भाँति लहराओ।

ये ताल वृक्ष किस आशा से,
जल में निज प्रतिध्वनि देख रहे,
आशीष-अक्षतों सी किरणें,
ऊपर उडु-हिमकर फेंक रहे।

ये धरा पयोधर से नगेन्द्र,
जिनसे पय-धारा सरिता बन,
शिशु से पिपास-आकुल जग को,
देती जीवन, यौवन, गायन।

दे रहे सभी संदेशा-सा, कुछ रागों का, कुछ त्यागों का,
परिमल की श्वास दबा न सका, बंधन या दंशन नागों का।

लहरो, इस म्रियमाण विश्व में अभिनव प्राण उगाओ,
बादल वाड़व का ऋण भी है, इसको भूल न जाओ,

लहरो, इसी भाँति लहराओ।

हँसता कोई फूल धूल का
मोहित देख रही नभबाला,
गूँथ रही काँपते करों से,
नक्षत्रों की नवलख माला।
इधर किसी मधुवन में छेड़ी,
किसी श्याम ने वेणु सुरीली,
रोम-रोम में बिंधती जाती,
बात नशीली रात नशीली।

उषा एक चिनगारी ले जब मेरा स्वप्न जलाने आये,
जब दीपाली-सी जगमग पर, फिर काली चादर छा जाये।

आँखों का परिचय खो जाये,
सत्य पुन अभिनय हो जाये।

तब करुणा की लहरो! मुझ को अपनी गोद छिपाओ।
नयी शक्ति चेतना ले जगूँ, ऐसी नींद सुलाओ।

लहरो! इसी भाँति लहराओ।

यह कौन मौन निशि गया छेड़,
कितनी व्याकुल प्यासी कराह,
किसका संकेत मिला मुझ को,

बन कर चातक का हृदय दाह।
तम के घूंघट से झांक उठी,
चपला तड़पन सी एक चाह,
घायल गतियों का यह उछाह,
कंटक-कंकड़ की विषम राह,

क्षण भर में कैसा परिवर्तन, पूनम पर बादल की छाया,
वसन रजत के भीग न जायें, किरणों का प्रहरी घबराया,
कोई डोर लगा बूंदों की टर रहा, मेरे प्रिय आओ,
मैं तो आज चला, तुम मेरे गीतों को दुहराओ।

लहरो, इसी भांति लहराओ।

शीघ्र ही प्रकाशित होंगी

१. अंग्रेजी नाटच-साहित्य : खण्ड २ (प्रेस में)
२. यदुवंश (महाकाव्य) : स्व. हरदयालसिंह (प्रेस में)
३. चतुर्वेदी समाज के लोकगीत
४. बात तो थी (कहानियाँ) : श्री रामेश्वरदयाल दुबे (प्रेस में)
५. कविताएं : श्री पं. वंशीधर जी शुक्ल
६. जयशंकर जास्नवी : स्व. हरदयालसिंह
७. कहानियाँ : डा. आर्येन्द्र शर्मा
८. ,, : डा. विंध्याचल त्रिपाठी
९. ,, : श्री ओमप्रकाश 'निर्मल'
१०. ,, : श्रीमती प्रतिभा गर्ग
११. बंगला कहानियाँ : अनु. दामोदरदास चतुर्वेदी
१२. सावित्री (आलोचनात्मक निबन्ध) :
श्री रूपनारायण चतुर्वेदी
१३. व्यंग्य निबंध : डा. राजेश्वरप्रसाद चतुर्वेदी
१४. भाव-साम्य : श्री उमरावसिंह पाण्डेय 'प्रेम'
१५. न्यू नायिका भेद : स्व. रसिकेन्द्र
१६. शोकाञ्जलि : 'ग्रे' की एलेजी का अनुवाद : स्व. जयकृष्ण चतुर्वेदी
१७. निबंध संग्रह खण्ड–१ : श्री वृन्दावनदास
१८. काव्य नवनीत : स्व. नवनीत चतुर्वेदी आदि आदि ।

१८